मध्य-युगीन हिन्दी कृष्णभक्ति-धारा

और

चैतन्य-संप्रदाय

(समन्वयात्मक अध्ययन)

डी० फिल्० की उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
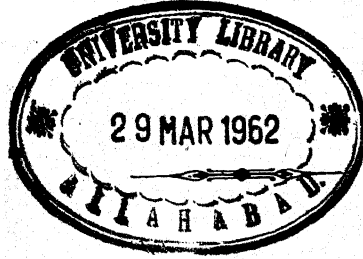
लेखिका :

मीरा श्रीवास्तव, एम० ए०

प्रयाग विश्वविद्यालय

१५ अगस्त, १९६१

की अभिव्यक्त किया गया है । संक्षेप में कृष्ण भक्ति के प्रत्येक पद पर आनन्द प्रभु की प्रतिष्ठा देखी जा सकती है ।

तृतीय अध्याय में भक्ति प्रकरण आरंभ किया गया है । मध्ययुगीन कृष्णभक्ति के पीछे किस प्रकार की दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक प्रेरणा थी उसे समझने का प्रयास किया गया है । भक्ति के पीछे उसी आनन्द की प्रेरणा क्रियाशील थी, जो भक्ति में आनन्द प्रभु कहलाया और जिसे श्रीकृष्ण-विग्रह में साकारता मिली । भक्ति का मनोविज्ञान भी आनन्द की खोज का मनोविज्ञान है, यह खोज परम प्रीत्यात्मक की खोज है । इसके बाद भक्ति के प्रकार--आनन्द, भाव, प्रेम, पुष्टि, आदि का विवेचन किया गया है । अन्त में भक्ति के अनिवार्य अंगों-- भगवत्कृपा गुरु आश्रय, आत्मसमर्पण, नाम, कीर्तन-- के मूल मनोविज्ञान को समझने का प्रयास किया गया है ।

चतुर्थ परिच्छेद में कृष्णभक्ति की साधना का विकास क्रम अंकित किया गया है-- नवधा भक्ति, सेवाप्रणाली, तथा मधुरोपासना साधना । नवधाभक्ति के भी अंगों का विवरण तो न देकर भक्ति की भावभूमि में उसके अनुदान पर विचार किया गया है । सेवा विधान के अंतर्गत सेवा की उदार भावना को समझाते हुए, उसके विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए, प्रत्येक संप्रदाय की अष्टप्रहर सेवा का पृथक पृथक विवरण किया गया है ताकि उनकी सांप्रदायिक विशेषता को भी अभिव्यक्त किया जा सके । राधावल्लभ संप्रदाय के अष्टयाम सेवा का रूप डा० विजयेन्द्र स्नातक के शोधप्रबंध के आधार पर प्रस्तुत किया गया है क्योंकि इस संप्रदाय की सेवा का स्वरूप और कहीं से उसके शुद्ध रूप में नहीं प्राप्त किया जा सका । मधुरोपासना साधना के अन्तर्गत चैतन्य तथा वल्लभसंप्रदाय में प्रचलित शृंगार परक भक्ति का कलात्मक ढंग प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है, उसका साधना परक अर्थ समझने का प्रयास किया गया है ।

पंचम अध्याय में सामान्यरूप से भक्ति तथा विशिष्ट रूप से कृष्णभक्ति की रसरूपता पर विचार किया गया है । सर्वप्रथम अलौकिक रस के आधार की प्रतिष्ठा की गई है । फिर भक्तिरस की भिन्नता को व्यक्त करने की चेष्टा की गई है, काव्यरस से उसके अन्तर को स्पष्ट करते हुए भक्तिरस का स्वरूप स्थापित किया गया है । काव्यरस और भक्तिरस की तुलना भी की गई है-- विभाव अनुभाव, आदि सभी भूमिकाओं से । अन्त में गौड़ीय संप्रदाय में शास्त्रीय रीति से प्रतिपादित कृष्णभक्ति रस का चित्र उपस्थित करते हुए उसके विभिन्न अवयवों के अध्यात्म परक अर्थों को समझने का प्रयत्न किया गया है ।

नवम ऊर्मि में कला, धर्म, साहित्य आदि में प्रस्फुटित मध्ययुगीन कृष्णभक्ति की सांस्कृतिक चेतना का मूल्यांकन किया गया है। परम्परा से चली आती हुई निवृत्तिपरक भारतीय अध्यात्म को शुष्क प्रवृत्ति से रागात्मिका करने में कृष्णभक्ति ने जो महत् प्रयास किया उस पर प्रकाश डाला गया है। भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति को मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति संस्कृति की महत्वपूर्ण देन को स्पष्ट किया गया है। कृष्ण भक्ति संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है, लौकिक संस्कृति का आलिंगन करने में उसकी उदारता और हृदय की विशालता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कृष्ण भक्ति संस्कृति ने लौकिक संस्कृति को अपनाकर उसके समुन्नयन का श्लाघ्य प्रयत्न किया। कृष्णभक्ति संस्कृति में सन्निविष्ट लौकिक संस्कृति के तत्वों का विश्लेषण भी किया गया है। कुल मिलाकर कृष्णभक्ति महान् भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम है, उसकी भव्य सांस्कृतिक चेतना में लौकिक अलौकिक की सीमा रेखाएं मिट जाती हैं। ससीम और असीम ओतप्रोत होते जाते हैं। यही तो वह महान साधना है जिसे भारतीय संस्कृति द्वारा अभिहित किया जाता है - जिसमें ससीम की हर गति असीम से मिलकर ही सार्थक होती है और असीम में व्यक्त होकर ही धन्य होता है।

परिशिष्ट में ब्रज तथा बंगाल की कृष्णभक्ति के पारस्परिक आदान-प्रदान को अभिव्यंजित किया गया है, पारिभाषिक शब्दों को भी स्पष्ट किया गया है तथा मुख्य मुख्य सिद्धान्तों की तालिका प्रस्तुत कर दी गयी है।

यह शोधकार्य डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट् : पेरिस : के निरीक्षण में आरम्भ किया गया था, प्रयाग-विश्वविद्यालय से उनके अवकाश-ग्रहण करने के अनन्तर डा० रामकुमार वर्मा, एम० ए० पी० एच० डी०, ने कृपापूर्वक इस कार्य भार को सम्भालना स्वीकार किया। यह प्रबन्ध उन्हीं के निरीक्षण में लिखा गया है। श्रद्धेय डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस अनुसन्धान में जो प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया उसके—

टीका :

3- तृतीय इकाई : भक्ति :

भक्ति का दार्शनिक आधार ।

भक्ति का मनोविज्ञान ।

प्रेमाभक्ति का स्वरूप ।

भक्ति के भेद - साधनभक्ति; वैधी, रागानुगा- कामरूपा, संबंधरूपा, कामानुगा; भावभक्ति; प्रेमाभक्ति; पुष्टिभक्ति- प्रवाह- पुष्टि, मर्यादापुष्टि, पुष्टि-पुष्टि, शुद्ध-पुष्टि।

भक्तिसाधना के अनिवार्य अंग- भगवत्कृपा, गुरु-आश्रय, आत्म-समर्पण, नाम, सत्संग ।

4- चतुर्थ-इकाई :

भक्ति-साधना : विकास-क्रम :

नवधाभक्ति - श्रवण, स्मरण, कीर्तन, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन ।

सेवा : राधावल्लभ संप्रदाय, निम्बार्क संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय, वल्लभसंप्रदाय

अनुरागमूलक साधना : चैतन्य संप्रदाय में मधुरभक्ति,- पूर्वराग, अभिसार, मान, माथुर, पुनर्मिलन ।

वल्लभसंप्रदाय में गोपीभाव- माखनचोरी, चीरहरण, पनघट, कुंज, दानलीला, रासलीला, विहार-काम ।

निकुंजलीला: सखीभाव।

5- पंचम-इकाई : रस :

रस के आधार ।

भक्तिरस का स्वरूप ।

काव्यरस एवं भक्तिरस ।

भक्तिरस की व्याख्या - स्थायीभावत्व, योग्यता-भाव; स्थायीभाव- शुद्धारति, प्रीतिरति, सख्यरति, वात्सल्यरति, प्रियतारति; विभाव : आलंबन - कृष्ण एवं कृष्णभक्त; उद्दीपन; अनुभाव; सात्त्विक; सात्विकलक्ष

व्यभिचारी : भक्ति-अभक्ति, आभास-प्राकृत्य, औचित्य ।

संकेत

पद सं०	पद संख्या
पृ०	पृष्ठ
प०क०त०	पदकल्पतरु
चै०च०	चैतन्यचरितामृत
आ०ली०	आदि लीला
म०ली०	मध्यलीला
भ०र०सिं०	भक्तिरसामृतसिंधु
पू०वि०	पूर्वविभाग
प०वि०	पश्चिमविभाग
उ०वि०	उत्तरविभाग
द०वि०	दक्षिणविभाग
प्र०ल०	प्रथम लहरी
द्वि०ल०	द्वितीय लहरी
तृ०ल०	तृतीय लहरी
च०ल०	चतुर्थलहरी
पं०ल०	पंचम लहरी
सू०सा०	सूरसागर
सु०बो०	सुबोधिनी

परंपरागत एवं युगीन पृष्ठभूमि में मध्ययुगीन कृष्ण-भक्तिधारा

का

उपक्रम

आर्य संस्कृति के प्रभातकाल में ही ईश्वर और मानव के बीच संबंध स्थापित होने लगा था । जिस क्षण से भारतीय - संस्कृति ने नयनोन्मीलन किया, उस क्षण से वह केवल मानवीय धरातल पर ही संतुष्ट होकर जीवित न रह सकी । पार्थिवता में सीमित, परिवेश तथा प्राकृत परिस्थितियों से बद्ध होकर रहना उसके लिए असह्य हो उठा ।उसकी दृष्टि अपने चारों ओर फैली हुई विशाल सृष्टि पर गई और यह सृष्टि जड़ावसन्न प्रतीत न होकर किसी अद्भुत आश्चर्यमयी चेतना से स्फूर्तिशील जान पड़ी । इस 'इदम्' के अन्तराल में भारतीय मनीषियों को स्पष्टतया एक ऐसी सत्ता का बोध हुआ जो जीवन और जगत को अपनी गरिमा तथा महानता से अभिभूत करके उन्हें परिवेष्टित किये हुये है । आर्य जाति ने एक बृहत् सत्य तथा अगम्यता-चेतना का स्पर्श मानव-जीवन में भी अनुभव किया । उसने यह अनुभव किया कि जीवन संघर्षों से आकुल है, नाना प्रकार की विषम शक्तियां स्वस्थ सुन्दर जीवन को पंकिल तथा नष्ट कर देने के लिए विचरण करती हैं किन्तु मानव-मन उनके सम्मुख परास्त नहीं होना चाहता । परन्तु मानवेतर शक्तियों से संघर्ष को केवल मानवीय शक्ति से फल पाना असंभव प्रतीत हुआ । आत्मविकास के संघर्ष में विजयी होने के लिये उसने अपने से अधिक महत्तर शक्तियों का आश्रय लिया जिसे उसने प्रकाशमयी चेतना किंवा 'देव' का नाम दिया । यह चेतना उसका सतत संरक्षण करनेवाली बोध हुई, अतएव संघर्ष में उसने उसका आवाहन किया । यह आवाहन मानव तथा देव चेतना के बीच मंत्र का माध्यम लेकर वैदिक साहित्य का सर्जक हुआ । इस प्रकार आरंभ से ही भारतीय जीवन की दृष्टि इहलोक तक सीमित तथा संतुष्ट न रह कर आलोकान्वेषी रही है ।

परंपरागत पृष्ठभूमि : दर्शन :

दार्शनिक दृष्टि से वैदिक विचारधारा को 'बहुदेववाद' कहा जा सकता है । आधुनिक योरुप विद्वानों ने उसका नामकरण (polytheism) किया किन्तु यह शब्द उस युग की विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए उपयुक्त नहीं है । आधुनिक भारतीय

गवेषणा से इस भ्रान्त तथ्य का निराकरण हो चुका है। 'बहुदेववाद' शब्द भी वैदिक दर्शन को स्पष्ट करने में असमर्थ सिद्ध हो चुका है। वास्तव में आर्य ऋषि नाना देवों को एक देव की ही विभिन्न अभिव्यक्ति, उसके भिन्न भिन्न रूप तथा नाम समझते थे। उस एक असीम सत्य, उस चेतना की कल्पना पुरुष सूक्त में हुई है। किन्तु उस 'एक' का प्रत्यक्षतः निदर्शन वैदिक साहित्य में नहीं हुआ, उसकी विविध-रूपता की ही प्रतिष्ठा विपुल विस्तार से हुई। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का प्रश्न उसके सम्मुख उपस्थित हुआ था। हवि किसी एक विशिष्ट देव को न देकर सभी देवताओं को अर्पित की गयी। सभी देवता उस देव के, उस एक यज्ञपुरुष के रूप थे, अतएव किसी देवता को प्रमुख स्थान न मिल सका। विष्णु, इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण, सविता आदि परमचेतना की ही विभिन्न अभिव्यक्तियां थीं; केवल विष्णु या इन्द्र देवाधिदेव नहीं बने, वरन् प्रत्येक देवता में अन्य देवता का स्वरूप निहित था; अतएव उनमें पारस्परिक संघर्ष का प्रश्न नहीं उठा। सभी देवता एक दूसरे के सहायक एवं सहयोगी थे, उनमें किसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा नहीं थी।

विष्णु, रुद्र एवं ब्रह्मा : ब्रह्मणस्पति : का आवाहन अन्य देवोंकी भांति ही किया गया, पुराणकालीन त्रयी के रूप में नहीं। देवों के अतिरिक्त देवियों का आवाहन भी हुआ जिनमें प्रमुख थीं भारती, इला, सरस्वती, उषा एवं सावित्री। अदिति को आदि-मातृचेतना कह कर संबोधित किया गया जो समस्त देवताओं की जननी है। किन्तु प्रत्येक देवता के साथ उसकी अविच्छिन्न शक्ति का युगल-रूप वेद-दर्शन में नहीं मिलता। शक्ति और शक्तिमान के द्वैत-युगल की स्थापना इस युग में नहीं की गयी।

उपनिषद्-दर्शन :

वस्तुतः वैदिक युग में साहित्य की धारा में दर्शन अन्तःसलिला की भांति प्रवाहित होता रहा। उपनिषद् युग में वैदिक दर्शन की स्पष्ट रूप से मीमांसा हुई। श्रुतियों में व्यंजित दार्शनिक तत्वों को उभारा गया, उन्हें स्वतंत्ररूप से ग्रहण करने की चेष्टा की गयी। इस प्रयास ने वैदिक विचारधारा को दो धाराओं में विभक्त कर दिया। एक ओर वैदिक साहित्य के प्रतीकों में व्यक्त उपासना तत्व के आधार पर ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक सुसम्बद्ध कर्मकाण्ड का नियोजन हुआ। यज्ञ, हवि, सोम आदि शब्दों, जिनका ऋषियों की आंतरिक साधना में एक आन्तरिक, अध्यात्मपरक अर्थ होता था, उनका बिल्कुल शाब्दिक अर्थ लेकर जनसाधारण के लिये एक विस्तृत तथा जटिल कर्मकाण्ड का प्रणयन होने लगा। दूसरी ओर उपनिषद् में विशुद्ध ज्ञान का प्रकाश हुआ। इस प्रकार युग दर्-

भिन्न व्यक्तियों को छोड़ कर, जो कर्मकाण्ड की तात्पर्यिकता के ही कायल थे, इतर लोगों के निकट भारतीय मनीषा में विभाजन उपस्थित हो गया। कर्मकाण्ड की मान्यता होते हुए भी युग की प्रधान विचारधारा चिन्तनप्रधान उपनिषदों की रही है। उपनिषदों ने वैदिक तत्ववाद को उभार लाने की चेष्टा की, किन्तु तात्पर्यिक किंवा सांकेतिक शैली में नहीं, सूक्ष्म चिंतन की शैली में। प्रथम बार इस साहित्य ने वैदिक देववाद का रूप स्पष्ट किया, विविध देवचेतनाओं के आधारभूत एक ईश्वर की स्थापना की जिसे किसी नाम विशेष से न पुकार कर केवल 'तत्' कहा गया। देवताओं के मन्त्राभिव्यंजित स्पष्ट व्यक्तित्वों का तिरोभाव होने लगा। एक परमचेतना ब्रह्ममूर्त रूप में ग्रहण होना आरम्भ हो गया। यह प्रतिक्रिया संभवतः श्रुतिमूलक कर्मकाण्ड से बचाव के लिए हुई। वैदिक तत्ववाद की गरिमा उपनिषद् में अभिव्यक्त हुई[1] किंतु उपनिषद् साहित्य में परमदेव की भावना अरूप, अगोचर बन कर व्यक्त हुई। वहाँ दृष्टि, वाक्, मति सब व्युत्क्रम हो जाते हैं, वह कुछ ऐसी अनिर्वचनीय चेतना है जो न ज्ञात है, न ज्ञेय।[2] इस निर्गुणता की ओर संकेत करते हुए सूर ने कहा है : 'मन वाणी कों अगम अगोचरसोजानै जो पावै।'

उपनिषद् में ब्रह्म की परात्परता के साथ ही उसकी सृष्टि में परिव्याप्ति भी घोषित की गयी :-

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत्।'[3]

तथा अंगुष्ठमात्र ज्योतिपुरुष के रूप में हृद्-गुहा में अधिष्ठित बतलाकर अन्तर्यामी रूप की भी प्रतिष्ठा हुई।

' अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वै तत्।'[4]

१- दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥२॥ द्वितीय मुण्डक, प्रथमखण्ड।

२- "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्।
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥३॥ प्रथमखण्डः केनोपनिषद्

३- ईशोपनिषद्, प्रथम श्लोक।

४- कठोपनिषद् ~~श्लोक १२~~, अध्याय २, वल्ली १, श्लोक 12.

अंगुष्ठमात्र: पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक: ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व: ।।एतद्वै तत्।।[1]

पुराण-दर्शन :

उपनिषद् का तत्त्ववाद अधिक अमूर्त होने लगा था । जनसाधारण की बुद्धि उस 'तत्' को ग्रहण करने में कुंठित होने लगी । ज्ञान की ऊंचाइयों को छू पाने में असमर्थ सर्वसाधारण ने कर्मकाण्ड का बोझा उठाना स्वीकार किया । किंतु भारत में अध्यात्म जीवन से विच्छिन्न होकर पनप नहीं सकता । पुराणों ने उपनिषद् के सूक्ष्म तत्त्ववाद को जनजीवन के निकट लाने का प्रयास किया । 'तत्' की गरिमा भुलाई नहीं जा सकती थी क्योंकि उसके भूल जाने से अध्यात्मचिंतन का मंदिर खंडहर बन जाता । किंतु उसका साक्षात्कार करने के लिए जिस अलभ्य ज्योति की आवश्यकता थी वह सर्वसाधारण को प्राप्य नहीं थी । उसे प्राप्य करने के लिए पुराणकालीन मनीषा ने परमचेतना को देह एवं आकार प्रदान किया । पुराण-साहित्य का विकास अव्यक्त, अमूर्त के दार्शनिक विवेचन से हट कर उसकी अभिव्यक्त मूर्ति पर, मर्त्यलोक के अंधकार में अवतरित परमतत्त्व के अवतार पर केन्द्रित हुआ । यह अवतार उस परमचेतना का ही अवतार था जिसे 'तत्' कह कर संबोधित किया गया था, किन्तु अब वह 'तत्' मन बुद्धि की ग्राहिका-शक्ति का एकदम तिरस्कार करने वाला नहीं बना रह सका । उसे मानव के पकड़ में आने का मार्ग खोजना पड़ा । गुणातीत ब्रह्म की सक्रिय अनुभूति-देह, प्राण, मन की चेतनाओं में बद्ध जनसाधारण के लिए असम्भव थी । ब्राह्मण-ग्रंथों में प्रतिपादित कर्मकाण्ड की जटिलता उसे और उलझा रही थी । कोई समाधान न था । ऐसी विकट परिस्थिति में उसी ब्रह्म के ऐसे रूप की आवश्यकता थी जिसको वह पहिचान सकती थी, अपना सकती थी । पुराण के अवतारवाद ने इस दुष्कर कार्य को संपादित किया । श्री रा० जी० भंडारकर के अनुसार साधारण जन को एक ऐसे आराध्य की आवश्यकता महसूस हो रही थी जिसका व्यक्तित्व सुस्पष्ट होता और जो जीवन के व्यावहारिक पक्ष को छू सकता ।[2] पुराणों में भागवत-पुराण का प्रभाव

१- कठोपनिषद् ~~श्लोक १२~~, अध्याय २, वल्ली १ श्लोक १२ ।

२-

" But for the ordinary people, an adorable object with a more distinct personality than that which the theistic portions of the Upnishads attributed to God, was necessary and the Philosophic speculations did not answer practical needs"---- Vaishnavism, Shaivism and other minor religious system system P.2.

सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ । श्रीमद्भागवत् भी व्यासदेवरचित वेद की व्याख्या कह कर घोषित किया गया । कृष्ण की मानवीय लीला, यहां तक कि शृंगारपरक लीला, का रोचक इतिहास पुराणों में विकसित हुआ । तंत्र के प्रभाव से शक्ति की स्थापना अनिवार्य हो उठी, आराध्य के साथ आराध्या का अविच्छेद्य संबंध उपासना में प्रचलित होने लगा ।

चतु:सम्प्रदाय :

उत्तरभारत के कृष्णभक्ति आन्दोलन को प्रभावित करने में १२ वीं १३वीं शताब्दी तथा उसके भी पूर्व विकसित दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदायों का हाथ रहा है । दक्षिण में जन्म लेकर चार सम्प्रदायों ने उत्तरभारत में प्रसरण किया । ये चार संप्रदाय हैं : श्रीरामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत पर आधारित श्री संप्रदाय, श्री मध्वाचार्य का द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित ब्रह्म-सम्प्रदाय, श्री निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत पर आश्रित सनक सम्प्रदाय तथा विष्णुस्वामी का शुद्धाद्वैत (?) पर आधारित रुद्र संप्रदाय । वल्लभाचार्य जी को विष्णुस्वामी की परम्परा में अन्तर्भुक्त करके सम्प्रदाय की विचारधारा को शुद्धाद्वैत कह कर स्थिर किया गया है किंतु इसका कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है ।

इन चार संप्रदायों में से प्रथम केवल रामभक्ति संप्रदाय का आधार बना अतएव उसका अवदान कृष्णभक्ति-आन्दोलन में नगण्य है । शेष तीनों सम्प्रदायों का प्रभूत संस्पर्श बंगाल एवं ब्रज की कृष्णभक्तिधारा में को प्राप्त हुआ । यहां पर संक्षेप में हम इन संप्रदायों की विचारधारा का दिग्दर्शन करेंगे । ब्रह्म संप्रदाय में द्वैतवाद की प्रतिष्ठा है । इसके अनुसार जीव और ब्रह्म में भेदभाव है । जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई अवश्य है किन्तु दोनों में भेद है । इनमें स्वामी-सेवक का संबंध है क्योंकि ब्रह्म स्वतंत्र है और जीव परतंत्र । व कृष्ण ब्रह्म है, राधा की मान्यता इस संप्रदाय में नहीं है । कृष्ण की प्राप्ति करने का एकमात्र साधन भक्ति है । निम्बार्क के मत से ब्रह्म और जीव का संबंध अद्वैत-द्वैत का है । जीव की स्वतंत्र भेदात्मक सत्ता नहीं है, वह अपना अस्तित्व ब्रह्म के अस्तित्व में डुबा सकता है, ब्रह्म से उसका तत्त्वत: अभेद है । कृष्ण ब्रह्म हैं, किंतु इस संप्रदाय में राधा की भी प्रतिष्ठा है । यद्यपि राधा का आविर्भाव कृष्ण से ही माना गया है, तथापि निम्बार्क मत में राधा-कृष्ण की एक साथ उपासना विधेय है । विष्णुस्वामी के संप्रदाय का क्या स्वरूप था, यह निश्चित नहीं हो सका है । उनके सम्प्रदाय को वल्लभाचार्य जी ने शुद्धाद्वैत मत के रूप में पल्लवित किया--ऐसी सामान्य धारणा है ।

मध्ययुगीन कृष्णभक्ति का दर्शन :

उपरोक्त दर्शन-परंपरा में कृष्णभक्ति के दर्शन का आविर्भाव हुआ । वस्तुतः मध्ययुग में कृष्णभक्तिधारा का अपना नितान्त स्वतंत्र दर्शन नहीं है किन्तु परंपरा का स्फंदम पिष्टपेषण भी उसने नहीं किया । भारतीय तत्वचिंतन के विभिन्न पहलुओं का समन्वय करने की प्रवृत्ति इस धारा की विशेषता है ।

आराध्य का स्वरूप मुख्यतया पौराणिक ही रहा, वह भी शृंगार प्रधान, किंतु उसके निरूपण में गंभीर तत्वचिंतन दृष्टिगत होता है । यह सत्य है कि श्रीकृष्ण के अवतार रूप की उसमें उत्कट प्रतिष्ठा है किन्तु श्रीकृष्ण की नराकृति के सरल और ललित होते हुए भी उनके परब्रह्मत्व को कहीं भी भुलाया नहीं गया । आकृति उनकी नर की अवश्य है किन्तु हैं वे मूलतः, स्वरूपतः अवतारी परब्रह्म ही । कृष्ण के अवतरित रूप को मानव मात्र की प्राप्ति से दूर रखने के लिए इस सगुणधारा ने "निर्गुण" को भी स्वीकार किया । उपनिषद् के अनिर्वचनीय "सत्" ही श्रीकृष्ण हुए कोई मनमाना अवतार नहीं बना यद्यपि श्रीकृष्ण के महामानत्व की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा भी थी । गीता के पुरुषोत्तम की महिमा ललित कृष्ण में पूर्णतया सुरक्षित रखी गयी । किन्तु उनके निर्गुण होने का भी स्वरूप ओझल नहीं रखा गया । अवतारी होकर भी रूपातीत होना, सगुण होकर भी त्रिगुणातीत होना श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व की विशेषता है । अप्राकृत धर्मों का पुनर्स्थापन "सत्" को सगुण श्रीकृष्ण का रूप दे देता है किन्तु इन धर्मों की परिकल्पना भी उपनिषद् के सूत्र-वाक्यों के आधार पर ही संभव हुई, मानवीयता के आरोप से नहीं । श्रीकृष्णतत्व की व्याख्या चैतन्य संप्रदाय में एक विशिष्ट प्रणाली से हुई जो भक्ति की मधुरता के साथ साथ सूक्ष्म दार्शनिक तत्वों का समावेश भी कर सकी। इस विवेचन का आधार भागवत में अभिव्यक्त एक वाक्य है जिसमें परब्रह्म का भगवान परमात्मा एवं ब्रह्म इन तीन रूपों में अनुकथन हुआ है । भक्ति के लिए भगवान को सर्वोत्कृष्ट ठहराकर उन्हें परब्रह्म की सर्वोच्च अभिव्यक्ति माना गया । यही मधुर श्रीमद्वल्लभाचार्य जी ने गीता के आधार पर निरूपित किया, क्षर के एवं अक्षर से अतीत पुरुषोत्तम ही वल्लभसंप्रदाय के इष्टदेव हैं । अस्तु हम देखते हैं कि भक्ति की इस भावप्रवण धारा में सम्यक् तत्वचिंतन को स्थान मिला है । संप्रदायों का भाष्य प्रस्थान त्रयी :बादरायण का ब्रह्मसूत्र,उपनिषद,गीता: पर ही लिखा गया है, अस्तु संप्रदाय की मान्यताओं में उच्चातिउच्च ज्ञानतत्वों की प्रतिष्ठा हुई । प्रस्थान त्रयी के अतिरिक्त पुराणों में भागवतपुराण का प्रभाव सभी सम्प्रदायों के दार्शनिक पक्ष पर पड़ा । किन्तु चैतन्य संप्रदाय के तत्वनिरूपण में भी उसे भुलाया नहीं गया । भक्ति के भावों का मूलस्रोत ही वह बना

की रक्षा, श्रीकृष्ण तत्व की प्रतिष्ठा में भी उसने कम सहायता नहीं पहुंचाई ।

'ईशावास्यमिदं सर्वं .....' को सूत्ररूप में स्वीकार करके सम्पूर्ण जगत परब्रह्म का आविर्भूत, परिणाम माना गया किन्तु लीलावाद की प्रतिष्ठा पुराणों के आधार पर ही हुई। यह सारा जगत् ईश का आवास समझा अवश्य गया, किंतु उसका पूर्ण परिपाक आनंद के लिये कहीं से विरक्तवादी कृष्णभक्तिधारा में न हो सका ।

कृष्ण की प्रतिष्ठा करने से वेद की उदात्त विचारधारा को भुला दिया गया । कृष्ण वैदिक देव विष्णु के प्रतिरूप नहीं हैं, वे सारे देवताओं का अतिक्रमण कर सत्ता के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान हुये । जैसा कि पहिले कहा जा चुका है वेद में विष्णु इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण आदि देव एक ही देव की विभिन्न अभिव्यक्ति है । प्रत्येक देवता में अन्य देवताओं का स्वरूप सन्निहित था, उनमें परस्पर विरोध का अवकाश नहीं था । वैदिक द्रष्टाओं की यह व्यापक दृष्टि पुराणकाल में लुप्त हो चुकी थी । इन्द्र, वरुण आदि देवता लोकपालों में जिस रूप में गृहीत हो गये, वह उनके मूलस्वरूप से कदापि साम्य नहीं रखता था । मानव मन की कल्पना से इन्द्र, वरुण आदि ऐसे छोटे देवता बन गये जिनमें आत्मपरितुष्टि तथा अहंकार की प्रचुरता थी । यहां तक कि ब्रह्मा, जो सृष्टि के सर्जक समझे जाते रहे हैं, कृष्ण के एक रोम की तुलना में भी खड़े नहीं रह सके । इस प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ कि सारे देवताओं में किसी न किसी प्रकार की भ्रान्ति का संस्थापन कर उन्हें कृष्ण के सन्मुख छोटा सिद्ध किया गया । इस प्रकार विभिन्न देवता परब्रह्म श्रीकृष्ण की स्वरूपाभिव्यक्ति न बन कर अनुचर बन गये । अवतारवाद की प्रतिष्ठा में दृष्टि का यह संकोच पौराणिक कथाओं के कारण घटित हुआ । वेद दर्शन की विशाल दृष्टि को क्षति पहुंची । एकनिष्ठा के लिए यह आवश्यक नहीं था कि भारत के सत्यद्रष्टाओं की उपलब्धियों को विकृत रूप दे डाला जाय ।

भारत की वैदिक, औपनिषदिक तथा पौराणिक परंपराओं को उत्तरभारत की कृष्णभक्तिधारा में ग्रहण अवश्य किया गया किन्तु उसका साक्षात् संबंध चतु:सम्प्रदायों की परंपरा से ही है, यद्यपि इस परंपरा को हम परवर्ती कृष्ण संप्रदायों का सांप्रदायिक आधार नहीं मान सकते क्योंकि स्वतंत्र संप्रदायों की स्वतंत्र मान्यताएं भी हैं । चैतन्य महाप्रभु के दीक्षागुरु के माध्व संप्रदायानुयायी होने के कारण गौड़ीय वैष्णवों को माध्व कहने की प्रथा चल पड़ी । इसी प्रकार वल्लभाचार्य जी को विष्णुस्वामी की गद्दी सौंपी गई क्योंकि विजयनगर के शास्त्रार्थ में उन्होंने शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन कर एक ऐसे मत की प्रतिष्ठा की जिसका साम्य विष्णुस्वामी के यथाकथित मत से था । किंतु

वल्लभ एवं चैतन्य संप्रदायों को हम सनक तथा ब्रह्म संप्रदाय नहीं कह सकते । इन महान व्यक्तित्वों ने अपना विशिष्ट भक्तिपंथ चलाया जिसका दर्शन भी अपना विशिष्ट है । विष्णुस्वामी के रुद्र-संप्रदाय की क्या विचारधारा रही है यह अब भी संदिग्ध है क्योंकि उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का सन्धान नहीं हो पाया है । हो सकता है कि वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत मत से विष्णुस्वामी के मत का कुछ साम्य रहा हो, किन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह विष्णुस्वामी की परंपरा में थे । वल्लभाचार्य जी के जीवनकाल में रुद्र संप्रदाय प्रचलित था भी या नहीं--इसका भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं है । इसी प्रकार चैतन्य संप्रदाय का दर्शन भी माध्वदर्शन से भिन्न दिशाओं में विकसित हुआ है । ब्रह्म एवं जीव तथा जगत की द्वैतता को चैतन्य संप्रदाय में स्वीकार नहीं किया गया । यद्यपि चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं किसी दर्शनग्रंथ का प्रणयन करके संप्रदाय स्थापित नहीं किया, किंतु उनके तिरोधान के उपरान्त जो गौड़ीय संप्रदाय प्रस्थापित हुआ उसके दर्शन का नाम 'अचिंत्यभेदाभेद' रखा गया । जैसा कि भेदाभेद शब्द से ही अभिव्यक्त है इस संप्रदाय का दर्शन भेद में अभेद की कल्पना लेकर विकसित हुआ, इसमें शुद्ध भेद किंवा द्वैतवाद नहीं है । माध्व संप्रदाय से अधिक तो इस पर निम्बार्क संप्रदाय का प्रभाव माना जा सकता है क्योंकि निंबार्क मत भी द्वैताद्वैत नाम से प्रसिद्ध है । भेदाभेद एवं द्वैताद्वैत वस्तुत: एक ही भाव को व्यक्त करने वाले पृथक पृथक शब्द हैं । गौड़ीय दर्शन में केवल 'अचिंत्य' शब्द और जोड़ दिया गया है जिसका अर्थ केवल यही है कि भेद में अभेद एवं अभेद में भेद को समझना मानव बुद्धि से गम्य नहीं है अतएव 'अचिंत्य' है, वह मानसिक स्तर से ऊँची किसी प्रज्ञा से ग्राह्य है, चिंतन से नहीं । निम्बार्कमत से प्रेरित ब्रजभाषा में स्वतंत्र साहित्य भी है, हरि-व्यासदेवाचार्य इसके अत्यन्त प्रसिद्ध कवि हुए हैं । हरिदास स्वामी की उपासना पद्धति में राधाकृष्ण के युगल रूप की प्रतिष्ठा होने के कारण उन्हें निम्बार्कानुयायी कह देने का आग्रह देखा जाता है, किन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है । राधा की सर्वोपरि प्रतिष्ठा कर हितहरिवंश जी ने स्पष्टत: एक नये विचारधारा का प्रवर्तन किया । सूक्ष्म अंतर्भेद चाहे जो भी हो सामान्य रूप से उत्तरभारत की कृष्णभक्ति का रूप एक ही है । जो भी अन्तर है वह अन्य का पूरक है, विरोधक नहीं । वल्लभाचा स्वामी हरिदास, हितहरिवंश, निम्बार्काचार्य तथा चैतन्यमहाप्रभु के संप्रदायों से एक व्यापक कृष्णभक्ति की कल्पना की जा सकती है जिसमें दर्शन एवं साधना आदि के विभिन्न अंगों का समन्वय स्थापित किया जा सकता है ।

साधना : भाव-धर्म :

कृष्णभक्तिधारा की विशिष्टता उसके भगवत्परायण होकर मानवीय रूप से रागात्मक होने में है। नवधा भक्ति आदि वैधी भक्ति का स्थान स्वीकृत अवश्य है किंतु इस साधना का मूल स्वर रागात्मिका वृत्ति का परब्रह्म कृष्ण में नियोजन है। आचार्य हजारीप्रसाद जी के शब्दों में 'श्रीकृष्णावतार की लीलाओं में अद्भुत मानवीय रस है। इसी मानवीय रस को भक्त कवियों ने अत्यन्त उच्च भूमिका पर रख दिया है। मनुष्य के जितने मनोराग हैं वे सभी भगवान की ओर प्रवृत्त होकर महान बन जाते हैं ---।'[1] यह मानवीय रस कृष्ण भक्ति की नितान्त निजी संपत्ति है। कृष्णभक्ति साहित्य ने भागवत प्रेम को जिस मानवीय ढंग से अभिव्यक्त किया है वह अलौकिक होने पर भी जनमानस के निकट है। प्रश्न उठता है कि भगवान के प्रति ऐसी प्रबल रागात्मकता क्या सहसा फूट पड़ी या कहीं इसका अन्तःस्रोत भी खोजा जा सकता है ?

वेद

मानव एवं देवचेतना के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान का संबंध वैदिक काल से ही आरंभ हो जाता है। ऋषि गृणन करने के लिए देवताओं का आवाहन अनुग्राह्य एवं अनुग्राहक का संबंधसूत्र बन कर भक्ति का अंकुर बना। यद्यपि वेदों में साधक तथा देवता के बीच वह तीव्र रागात्मक आवेग नहीं है जो मध्ययुगीन कृष्णभक्ति की विशिष्टता है तथापि उनमें मानवीय राग का अभाव नहीं है। पारिवारिक संबंध के रूपक से पृथ्वी को माता तथा द्युलोक को पिता कह कर उनमें "मातापितरौ" का संबंध स्थापित किया गया। पार्थिव अपार्थिव लोकों का एकीकरण करने वाली आर्यजाति ने अपने को उनका सन्तान घोषित किया। संतान का संबंध ही नहीं द्युलोक के देवताओं से साधक ने साधना-क्रम में अन्य संबंध भी स्थापित किये। देवतागण उसकी रक्षा करते थे, उसका पालन तथा उसके शत्रुओं का विनाश करते थे, किंतु आत्मीय बन कर, तटस्थ होकर नहीं।

शत्रुओं के अभिभवकारी, रक्षकरूप में इंद्र का आवाहन किया गया किन्तु इन्द्रत्व के नाते ही नहीं बल्कि उन्हें सखा बना कर।[2]

१- श्रीकृष्ण की प्रधानता —— मध्यकालीन धर्म साधना, पृ. 120 ।

२- 'अस्माकं व इन्द्रमुश्मसीष्टये सखायं विश्वायुं प्रासहं युजं वाजेषु प्रासहं युजम् ।
अस्माकं ब्रह्मोतयेऽवा पृत्सुषु कासुचित् ।
नहि त्वा शत्रुः स्तरते स्तृणोषि यं शत्रुंस्तृणोषि यम् ।।४।।

ऋग्वेदसंहिता, १ अध्याय, १ मंडल, अष्टम, १६ अनुवाक

उग्र इन्द्र की महिमा उसके शौर्य के कारण ही है किन्तु उसका आवाहन इसलिए अधिक हुआ है कि जैसे मित्र की महिमा है वैसे आर्यों की रक्षा में इंद्र की महिमा थी।[1] वह सखा है, मित्र है, पति तथा पिता है। इंद्र से कहा गया है कि जैसे यज्ञशाला में ऋत्विकों के प्रति यजमान हैं और जैसे यज्ञों के प्रति अस्माकम् हो जाते हैं वैसे तुम पुरोवर्ती सोम की भाँति स्वर्ग से हमारे पास आओ। जैसे पुत्रगण अन्न ग्रहण करने के लिए पिता का आवाहन करते हैं वैसे ही हम तुम्हें बुलाते हैं।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना के प्रस्फुरणकाल से ही मानव चेतना देवचेतना से सब प्रकार का मानवीय संबंध स्थापित करने को उत्सुक रही है। ईश, विभु चेतना से जीव, अणु चेतना का संबंध ईसाई धर्म की भाँति यहाँ शासक एवं शासित का ही नहीं रहा। दंडदाता की भयानक छाया से वह कभी आक्रान्त नहीं हुआ, उसने रक्षक रूप में एकमेव भाव से उग्रातिउग्र रुद्रों का भी आवाहन किया। त्राता तथा संरक्षक का रूप आरंभ से उजागर होने लगा। आर्यजाति ने उस दुर्लभ ऐश्वर्य को पिता के रूप में अपना संरक्षक बनाकर पुकारा, मित्र की भाँति अति निकट खींच लाने का प्रयास किया। इस रागात्मक सूत्र से मानव तथा देवता के बीच की खाई कम हो गई। देवतागण यजमान बन कर मित्र, पिता, पति, स्वामी आदि के रूपों में ऋत्विकों की हवि ग्रहण करने लगे। सृष्टि एवं सर्जक के बीच के पारस्परिक संबंध को मानव ने आरंभ से ही पहिचान लिया।

उपनिषद्

उपनिषदों में यह रागात्मकता लुप्त हो गई। उनमें ईश्वर का तत्वचिंतन प्रमुख है, भावचिंतन नहीं। वहाँ मानव एवं प्रभु के रागात्मक संबंध की अधिक चर्चा नहीं मिलती। किंतु सूत्ररूप में उनमें एक ऐसा रूपक है जो कृष्णभक्ति का निर्विवाद रूप से

1- "त्वं न इन्द्र राया तरूषसोग्रं चित्त्वा महिमा सक्षदवसे महे मित्रं नावसे ।१०।
ऋग्वेदसंहिता, १२९ सूक्त, द्वितीय अष्टक, प्रथम मंडल, प्रथम अध्याय १९ अनुवाक।

2- "एन्द्रयाह्युप नः परावतो नायमच्छा विदथानीव सत्पतिरस्तं राजेव सत्पतिः।
हवामहे त्वा वयं प्रयस्वन्तः सुते सचा।
पुत्रासो न पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये॥१॥
ऋग्वेद संहिता, १३० सूक्त, द्वि० अष्टक, प्रथम मण्डल, प्रथम अध्याय, १९ अनुवाक।

भावक बना । उपनिषद् में कहा गया है कि पत्नी पति से आलिंगित होकर जिस प्रकार सर्वथा आत्मविस्मृत हो जाती है उसी प्रकार आत्मा परमात्मा को प्राप्त कर सर्वथा रत हो जाती है । इसी भाव को राधा-कृष्ण के माध्यम से कृष्ण काव्य में व्यक्त किया गया आत्मा-परमात्मा के संबंध को प्रेमी-प्रियतम :राधाकृष्ण: के संयोग के माध्यम से व्यक्त करके साधना की प्रगाढ़तम अवस्था का निरूपण किया गया ।

पुराण

पुराणों में अवतारवाद की प्रतिष्ठा के कारण मानवीय संबंधों से भगवत्-उपासना का मार्ग उन्मुक्त हो गया । पौराणिक साहित्य में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हुआ है । हरिवंशपुराण में गोपियों का प्रसंग भी है । इस पुराण में पूतनावध,माखनचोरी, कालियदमन, गोवर्द्धन-धारण आदि लीलाओं का विशद रूप में कथन है । पद्मपुराण, वायुपुराण,वामन पुराण,कूर्म और गरुण पुराणों में कृष्ण की कथा का कोई कोई अंश अत्यन्त संक्षिप्त रूप में वर्णित है । हरिवंश एवं विष्णुपुराणमें रासलीला का उल्लेख है । किंतु मध्ययुगीन-कृष्ण भक्ति को प्रभावित करने वाला सबसे प्रमुख पुराण श्रीमद्भागवत है । भागवत मे कृष्ण की कथा विस्तार से दी गयी है एवं उनकी अनेक लीलाओं का भक्तिविभोर हृ कंठ से गायन हुआ है । पुत्र,सखा,प्रिय-- सभी रूपों में कृष्णावतार की सरस मानवीयता का प्रसन्न स्रोत प्रवाहित हुआ है । गोपी-कृष्ण भाव की,परिवर्द्धित रूप में बंगाल एवं व्रज के संप्रदायों में जिसकी उत्कट प्रतिष्ठा हुई,श्रीमद्-भागवत में विस्तृत चर्चा है । रासपंचाध्यायी में आध्यात्मिक संकेत देते हुए भी भागवतकार ने गोपीकृष्ण के श्रृंगारिक संबंध का चित्र स्पष्ट रेखाओं में अंकित किया है ।

भागवत-धर्म

इसमें वासुदेव कृष्ण की प्रतिष्ठा थी । भक्तिपरक यह धर्म ऐकान्तिक,सात्वत आदि नामों से भी अभिहित हुआ । इस धर्म में सगुण रूप की उपासना, भगवान की लीला में भाग लेने, प्रेम तथा आत्मसमर्पण का महत्व था । किंतु इसमें भक्ति के अतिरिक्त ज्ञान,योग,तप,वैराग्य आदि अन्य साधन भी समाविष्ट हो गये जिससे भक्ति की निविड़ एकान्तिकता अक्षुण्ण नहीं रह सकी । फिर भी भक्ति का सर्वोपरि महत्व था, इष्ट के प्रति एकान्तिक भाव से आत्मदान के इस धर्म की विशेषता थी । इष्टदेव में परानुरक्ति को भक्ति मानने के कारण रागधर्म का सूत्र भागवतधर्म में भी मिल जाता है ।

आलवार

भक्ति का यह रूप जो मूलतः रागात्मक है द्रविड़प्रदेश के आलवार भक्तों में पर्याप्त विकसित था । भक्ति के उद्भव क्षेत्र के रूप में दक्षिण प्रसिद्ध है । छठीं ६ वीं शताब्दी में द्रविण प्रांत के कृष्ण भक्त कवियों में परवर्ती कृष्णभक्ति की सुसंबद्ध झांकी देखने को मिलती है । इन कवियों को आलवार कहा गया है । इनकी भक्ति-साधना में प्रायः सभी भावनीय मनोराग शामिल हुए हैं । गोदा आलवार का गोपी भाव से कृष्ण की उपासिका होना अभिव्यक्त है । उन्होंने माधव के साथ अपने परिणय तक की चर्चा की है, तथा उनके काव्य में विरहव्यथा भी व्यक्त हुई है । नम्म आलवार की कृतियों में भाव की दृष्टि से वात्सल्य, सख्य तथा मधुर तीनों भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई । इन भावों को स्थान देते हुए भी माधुर्यभाव को और विशिष्ट स्थान होना इस भाव की उत्कृष्टता का परिचायक है[१]। उत्तरभारत की कृष्ण-भक्तिधारा ने आलवार भक्ति में प्रचलित इन सभी भावों का पूर्ण प्रस्फुटन किया । वल्लभ-संप्रदाय में कृष्ण के बालभाव की वात्सल्य भक्ति के मुख्य होते हुए भी सख्य, दास्य, यहां तक कि माधुर्य को भी स्थान मिला । वल्लभाचार्य जी ने गोपीभाव को सबसे उत्कृष्ट भी माना है यद्यपि उसे सिद्धि का दुष्कर समझ कर सबके पुरुषार्थी के के लिए अपथ कहा है । विट्ठलनाथ ने समकालीन विचारधारा के प्रभाव से गोपीभाव को अपने संप्रदाय में पूर्ण प्रतिष्ठा की । दक्षिणात्य होने के कारण यह असंभव नहीं कि महाप्रभु वल्लभाचार्य आलवारों की विचारधारा से परिचित रहे हों । यह अवश्य है कि उन पर भागवत का भी प्रभाव पड़ा । किन्तु जिस प्रकार बंगाल में जयदेव और चण्डीदास की पदावली गूंज उठी उसी प्रकार ८ वीं ६ वीं शताब्द में तमिल प्रान्त में गोदा, नम्म एवं अन्य आलवार भक्तों का स्वर भी गूंजा । चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति का यह भावात्मक रूप अपने दक्षिणांचल यात्रा से भी ग्रहण किया, जैसा कि चैतन्यचरितामृत में वर्णित है । गोदावरी तट पर राय रामानन्द से उनकी भक्तिविषयक वार्ता प्रसिद्ध है । राय रामानन्द दाक्षिणी ब्राह्मण थे, वे कृष्णभक्ति के समस्त भावों से भलीभांति परिचित जान पड़ते हैं । महाप्रभु ने राय रामानंद से पूछा कि भक्ति क्या है ? प्रत्युत्तर में

१- 'नम्म आलवार ने उपास्यदेव के मिलन में को 'आध्यात्मिक सम्बास' की संज्ञा दी है और उसके लिए तीन प्रकार के प्रेम को मुख्य साधना ठहराया है जिन्हें हम क्रमशः सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य कह सकते हैं । किन्तु इन तीनों में से उन्होंने

में क्रम से स्वधर्माचरण, समस्त कर्मों का अर्पण, सारे धर्मों को छोड़ कर श्रीकृष्ण की शरणागति, कृष्ण के प्रति परमानुरक्ति, दास्य, सख्य, कान्ताप्रेम की चर्चा है। किन्तु कान्ताभाव से भी महाप्रभु को संतोष नहीं हुआ। जब रायरामानन्द ने राधाभाव को साध्यशिरोमणि ठहराया तो महाप्रभु को पूर्ण संतोष हुआ। इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि रायरामानन्द भक्ति के सब भावों से भिन्न थे, यहां तक कि राधा भाव से भी, किसी उत्कृष्टतम भाव स्वीकार करके बाद में सखीभाव की उपासना-पद्धति निकल पड़ी। राधा भाव ने उत्तरकाल की कृष्णभक्तिधारा को आक्रान्त कर लिया। राधावल्लभ संप्रदाय की अधिष्ठातृ देवता ही श्रीराधा हैं, हरिदासी एवं निम्बार्क संप्रदायों में भी राधाकृष्ण की निकुंज लीला का गान ही एकमात्र उपासना-पद्धति है। तथा चैतन्य संप्रदाय के पदावली साहित्य में राधाकृष्ण लीला का उन्मत्त वेग प्रवाहित हुआ है। अन्य भावों की धारायें मंद तथा क्षीण हैं। राधाभाव कृष्णकाव्य के शिखरपर आसीन है। यह भाव गोपीभाव से पृथक है। गोपीभाव तो आलवार भक्तों में प्राप्त है किन्तु यह नूतन भाव ब्रज व एवं बंगाल की कृष्ण भक्तिधारा में विकसित हुआ। इस राधाभाव की चर्चा न तो आलवार-साहित्य में है न श्रीमद्भागवत में। भागवत में किसी एक गोपी का कृष्ण की प्रियतमा होना अवश्य इंगित है किन्तु वह गोपीभाव के प्रसंग में ही, स्वतंत्र राधा भाव की उसमें कोई चर्चा नहीं है। किन्तु यह भाव इतने उत्कट रूप में अचानक कैसे प्रतिष्ठित हो गया? उसका कोई स्रोत भी था अथवा नहीं? अभी तक केवल एक ही स्रोत का सन्धान हुआ है जिसे हम लोग लोकमानस एवं तत्प्रेरित साहित्य कह सकते हैं।

<u>साहित्य</u>

कृष्णभक्ति के आविर्भाव में विशेषकर राधाभाव की सर्वोपरि प्रतिष्ठा में लोक संस्कृति एवं तज्जन्य साहित्य की देन अकाट्य है। बंगाल में लोकमानस की परकीया-

---

माधुर्य को ही प्रधानता दी है और प्रसिद्ध है कि इस भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये वे कभी कभी स्त्री का वेश तक धारण कर लिया करते थे।*

* तमिल प्रान्त के आलवार भक्त कवि - मध्यकालीन प्रेम साधना - ले० श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २०

नायिका राधा ने कृष्ण के साथ अपना स्थान सुरक्षित कर रखा था । चैतन्यमहाप्रभु के आविर्भाव के पूर्व जयदेव एवं चण्डीदास की पदावली में राधा के प्रेमकी अत्यन्त भावुक और विपुल गाथा है ।

जयदेव :

जयदेव की राधा में उन्मत्त विलासाकांक्षा है किन्तु विरह-कातरता भी है । उसमें प्रेम का अभिमान नहीं, गोपियों से घिरे रहने पर भी कृष्ण के प्रति एकान्त दुर्बलता है। यद्यपि जयदेव के गीतगोविन्द में खुल कर विलास-चर्चा है तथापि उसमें गंभीर प्रेम की ऐसी अनुपम भावरसता व्यंजित हुई है जो राधा प्रेम को लौकिक धरातल से ऊपर उठाकर हरिस्मरण के उपयुक्त भी बना देती है । स्वयं जयदेव ने कहा है :

> " यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
> यदि विलास कलासु कुतूहलम् ।
> मधुर कोमल कांतपदावली
> शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम् ।।"

जयदेव के विलासोच्छ्वास को सुनकर चैतन्य महाप्रभु राधा की महाभाव दशा तक में लीन हो जाया करते थे । जयदेव की पदावली सुनकर वह भावदशा जिसे वैष्णव शास्त्र में दिव्योन्माद कहा गया है चैतन्यदेव पर व्याप्त हो जाती थी । उनसे अतीन्द्रिय भाव से उन्मादग्रस्त होने पर वे नाना अनुभाव प्रकट होने लगते थे जो जयदेव की केलविनी राधिका में काव्यकला के प्रसंग में वर्णित है । रोमांच, सीत्कार, कम्प, तानव, विभ्रम, नेत्रनिमीलन, भूमिपतन, मूर्छा आदि दशाएं महाप्रभु के शरीर में साकार हो जाया करती थीं । उनकी साधना में लौकिक विलास-कौतुक अलौकिक भावदशा में परिणत हो गया । इसका श्रेय केवल उनकी आध्यात्म चेतना को ही नहीं है, वरन् जयदेव की सरस्वती को भी है । जयदेव की राधा में ही अनन्यासक्त भक्त का तीव्रतम चित्र प्रस्तुत है । आधुनिक विद्वान के मत में 'जयदेव की विलासिनी राधा और विदग्ध कृष्ण की विलास कला वस्तुतः आधी भी नहीं रहती अगर राधिका को एकान्त निर्भर भक्त के रूप में न देखा जाय। भगवान की प्राप्ति के लिए जयदेव की राधा इतनी व्याकुल हैं कि वे सभी कारणों को

सांसारिक रमणियों की विरक्ति के साधन में उन्हें प्रेम के मार्ग से विचलित नहीं कर सकती[1]।"

जयदेव का प्रभाव केवल बंगाल तक ही सीमित नहीं था। भाषा संस्कृत होने के कारण उनकी कोमलकांत पदावली का प्रभाव ब्रज के कवियों तथा गुजराती कवियों पर भी परिलक्षित होता है। गीत के स्वर, लय की अभूतपूर्व माधुरी से आकर्षित होकर शायद ही कोई ऐसा भाषा कवि हुआ हो जिसने जयदेव की शैली में एकाध पद न रचे हों। कहीं कहीं पर तो जयदेव की पदावली का भावार्थ ही पद्यबद्ध कर डाला गया है[2]।

१- 'गीत गोविन्द की विरहिणी राधा' - मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० १५७
:ले० हजारीप्रसाद द्विवेदी:

२- विहरत बन सरस बसंत स्याम। संग जुवती जूथ गावैं ललाम ।।
मुकुलित नूतन सघन तमाल। जाही जूही चंपक गुलाल ।।
पारिजात मंदार माल। लपटावत मधुकरिन जाल ।।
कुटज कदंब सुदेस ताल। देखत जन रीझि मोहनलाल ।।
अति कोमल नूतन प्रबाल। कोकिल कल कूजत अति रसाल ।।
ललित लवंग लता सुवास। केतकी तरुनी मानो करत हास ।।
यह विधि लालन को विलास। वारने जाउ जन 'गोविंददास' ।।

गोविंदस्वामी, पद सं० १०६

विद्यापति

विद्यापति का प्रभाव ब्रज एवं बंगाल दोनोंपर परिलक्षित है। विद्यापति के मैथिल गीत हिन्दी के काव्यप्रेमियों में उतने ही समादृत रहे जितने उनके काव्य के प्रभाव से ब्रजबुलि नामक नूतन भाषा के आविष्कर्ता बंगाली कवियों एवं काव्य-प्रेमियों में। विद्यापति की राधा में सामान्य नायिका के भावपूर्ण चित्र हैं। वय:सन्धि से लेकर सुरत तक के चित्र नायिका राधा के प्रसंग में खींचे गये हैं। विद्यापति की राधा में यौवन और रूप के नीलेपन के साथ ही प्रेम की तरलता भी है। मदन की कातरता और कृष्ण मिलन की उत्कंठा के में विद्यापति की राधा की उत्कंठा में का समीकरण हो सकता है।

'सामर सुंदर ए बाट आएत,
तै मोहि लागलि आंखि।
आरति अंचर साजि न भेलि,
सब सखीजन माखि।

कतहि भौ सखि कतहि भौ
कत नागर अभिसार
दुरहु दूतन एहि में कब औं
पुन दरसन आस ।।' [१]

'कतहि भौ सखि कतहि भौ' में प्रेम की तीव्रोत्कंठा जिस विह्वलता से प्रकट हुई है, वह सम्पूर्ण कृष्णभक्ति काव्य में पूर्वराग की 'अभिलाषा' दशा बन सकी। विद्यापति तथा चण्डीदास के गीत सुन कर चैतन्य महाप्रभु का शरीर भी बाना विदित है। विद्यापति की पद-शैली ने ब्रज एवं ब्रजबुलि की पदशैली को जन्म दिया। उनकी अटूट सरलता, सरसता तथा लोकगीत की भांति सहज प्रवाह ने ब्रजभाषा तथा ब्रजबुलि की काव्य प्रेमी बंगाल रहे हैं कि आधुनिक बंगाल विद्वान विद्यापति को मध्ययुग में बंगला काव्यधार [illegible] प्रवर्तक कवि तक मानते हैं।

१- 'विद्यापति'- कुं० सूर्यबली सिंह लाल देवेन्द्र सिंह, पद सं० १३

लोकपरम्परा में तथा साहित्य परम्परा में चली आये हुए राधाकृष्ण के स्वरूप ने मध्य युग की कृष्णभक्ति को पुराणों से भी अधिक प्रभावित किया । कृष्णभक्ति के अधिकतर सम्प्रदायों में मात्र इस युगल प्रेम की मूर्ति विराजमान है । राधावल्लभ संप्रदाय ने शांत, दास्य, सख्य, मधुर आदि की चर्चा भले [illegible] की हो, संप्रदाय में इन रसों की एक पंक्ति भी मुश्किल से ही ढूंढ मिलेगी । रूपगोस्वामी ने बड़े विस्तार के साथ दास्यादि रसों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है किन्तु चैतन्य संप्रदाय में दास्य, सख्यादि भावों के पद हैं कितने ? और तो और स्वयं मधुर भाव भी तो यहां राधा कृष्ण [illegible] भाव में सिमट गया ।

चण्डीदास विद्यापति आदि के साहित्य में प्रचारित राधाकृष्ण की विलास-लीला ने ब्रज और बंगाल की कृष्ण भूमि को आच्छादित कर लिया- स्वामी हरिदास, हितहरिवंश निम्बार्क, चैतन्य(देव) सभी के सम्प्रदायों में केवलमात्र एक ही भाव समाहित है; निकुंजभाव-आंख्य मिचौनी से उल्लसित राधाकृष्ण का प्रेम-खेला । यदि किसी संप्रदाय में भक्तिरस के सारे भाव सक्रिय हैं तो वल्लभ सम्प्रदाय में । उसमें राधाकृष्ण की [illegible] विलास चर्चा एकमात्र चर्चा नहीं है । युगल-दम्पति की आसक्ति में ही वल्लभसम्प्रदाय का चित्त नहीं अटका, उसने जीवन में कदाचित उत्पन्न होने वाले सारे मानवीय मनोरागों को भक्ति-भाव में बदल दिया । यद्यपि वल्लभसम्प्रदाय ने भक्तिरस के पांच भावों-शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर- का शास्त्रीय रूप निर्धारित नहीं किया, तथापि उनके भक्तिरस का कलासिंधु सबसे विपुल है, नाना भावों के भक्ति-विलास से संकुल हैं ।

रसपरक साधना का रूप ब्रज एवं बंगाल में प्रायः एक-सा है । वात्सल्य, सख्य, मधुर आदि भाव ब्रज के सम्प्रदायों में उसी प्रकार मान्य हैं जैसे बंगाल के गौड़ीय संप्रदाय में । किन्तु ब्रज में उस चित्त से उत्पन्न आह्लाद में किसी को यह चिन्ता नहीं है कि चित्त की शैली क्या है । इसके विपरीत बंगाल के कृष्णभक्त कवियों ने उस चित्त के [illegible] टेक्नीक का विशद विश्लेषण भी किया है । वृन्दावन के षड् गोस्वामियों ने चैतन्य सम्प्रदाय में स्वीकृत भावों को शास्त्रीयता प्रदान की । उन्होंने अपनी सूक्ष्म पैनी दृष्टि से भावपरक इस कृष्ण रस-साधना को एक ऐसा विवेचनात्मक रूप दिया जो रसबोध का अनिवार्य उपकरण बन कर काव्य जगत के मन मानस पर अपनी [illegible] प्रतिष्ठा कर सकी । इस देन के विपुल विलास-वैभव ने गंभीर शास्त्रीय मर्यादा का परिधान पहना । जब तक संप्रदायों की देन केवल कीर्तन या पद-रचना तक ही सीमित थी, चैतन्य

राजनीतिक अवस्था :

मध्ययुग में मुसलमानी साम्राज्य निश्चितरूप से जम चुका था । यद्यपि केन्द्रीय शासक की नीति उदार थी जैसा कि विट्ठलनाथ एवं अन्य भक्तों के नाम पर अकबर के फरमानों से विदित होता है, तथापि धार्मिक असहिष्णुता का भारतवर्ष में अभाव नहीं था । नवद्वीप के मुसलमान शासक हिन्दुओं पर भाँति भाँति के अत्याचार करते थे । चैतन्य महाप्रभु की कीर्तन मंडली को वहाँ का काजी बहुत सताया करता था, यहाँ तक कि उनका मृदंग भी एक दिन तोड़ डाला गया । इसकी प्रतिक्रिया हिन्दू जनता पर अच्छी नहीं हुई । महाप्रभु का उत्साह कम नहीं किया जा सका, वरन् जो कीर्तन को पाखंड समझते थे वे भी उसमें सम्मिलित होने लगे । यह अवश्य है कि यवन शासकों को तान्त्रिक लोग बहकाया करते थे, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं यवन शासक नदिया की हिन्दू जनता के प्रति उदार थे ।

केन्द्रीय व्यवस्था जैसी भी रही हो, सामान्य राजनीतिक परिस्थिति बहुत संतोषजनक नहीं प्रतीत होती । नृप अन्यायी और चोर थे, प्रजा का पालन नहीं करते थे, अनीति का बोलबाला था । प्रजा कंगाल थी,[1] अन्न के अभाव में इधर उधर घूमती फिरती थी, बार बार अकाल पड़ा करता था ।

धार्मिक अवस्था : ऐसी अस्त व्यस्त परिस्थितियों में धर्म से कुछ आश्वासन मिलने की आशा हो सकती थी किन्तु जीवन का यह अंतिम संबल उससे अधिक विकृत था । जिन सामाजिक, राजनीतिक कुरीतियों से क्षुब्ध होकर व्यक्ति धर्म की ओर झुकता था वे धर्म की आड़ में और भी पनप रही थीं । धार्मिक पाखंड का एकछत्र साम्राज्य था । धर्म की इस दुरावस्था से खीझ कर हरिराम व्यास ने कहा कि उन्हें किसी पर भी विश्वास नहीं रहा :[2]

'मोहि न काहू की परतीति ।

१- 'नृप अन्याई चोर, प्रजा सौं पालन कर्यौ ।
ईति अनीति अकाल, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु । ८ ।
प्रजा दुखित कंगाल, अन्न बिना बिन बिन फिरें ।
पुनि पुनि पड़त अकाल, कलि प्रतापहरि कृपा बिनु ।। ९ ।

कलि चरित बेली — श्री वृन्दावनदास, पृ. ११

'मोहि न काहू की परतीति ।

'प्रज्ञा' कहा गया है । इस स्वयंप्रकाश चेतना में सामंजस्य की अपनी निजता
उसमें विरोधी तत्वों के सत्य को समझने तथा उद्घाटित करने की
है । इसमें ज्ञान, अज्ञान के बीच किसी प्रकार का बाहरी समझौता करके नैतिक
को ही अंतिम शरणस्थल मान लेने की प्रवृत्ति नहीं होती, परन्तु अज्ञान के समस्त उपकरणों
को सत्य ज्योति से संयुक्त करने की आन्तरिक दृष्टि होती है । मानसिक और मानस
से ऊपर की चेतना प्रणालियों में अन्तर है । नीति मानसिक रूप से सुधारकर व्यवस्थित
निरूपण की जाती है, किन्तु बाह्य संतुलन के नीचे असंतोष का भी आलोड़न मचा रहता
है उसे शान्त करने में धर्मशास्त्र के विधि निषेध असफल हो जाते हैं । उसे शान्त
स्थिर करने में अतिचेतना के रहस्यों की ओर उन्मुख होना व्यक्ति के लिये आवश्यक हो
उठता है अन्यथा औपचारिक समाधान तो हो जाता है किन्तु आत्यंतिक विकास नहीं
हो पाता । व्यक्ति का विकास अन्दर से होता है, शरीर अथवा स्वतंत्रता के भीतर,
व्यवस्था की सीमाओं के क्रम से नहीं उसके अतिक्रमण   से
व्यक्तित्व का संस्कार, बर्बरता से नीतिप्रधान मनुष्यता तक ही पहुंचकर समाप्त नहीं
हो जाता, परन्तु आगे की चेतना (जिसे आत्म-चेतना कह सकते हैं) में भी प्रवेश करके
कुछ स्थायित्व प्राप्त कर पाता है । अन्तर्यामी की चेतना में पहुंचकर दिव्य वस्तु के
विकास की रेखायें निर्दिष्ट होती हैं । सत्ता का विकास, उसका आत्मप्रस्फुटन स्कूलमास्टर
की प्रणाली से शिक्षित तथा अनुशासित करके नहीं होता, परन्तु उस चेतना से होता है
जो स्वयं पूर्ण है जिसके अन्दर में संभूति का रेखाचित्र रहता है और जो उस की आनंद
पूर्णता को संभूति में उतार लाने में सतत क्रियाशील है । यही विश्वचेतना का क्रमयोग
है ।

यह आत्म चेतना किसी मानसिक नियम या फार्मूला से कार्य करने को बाध्य
नहीं है । वह सत्य की ऐसी व्यापक तथा अन्तर्दृष्टि समानता से परिचालित रहती है
जो मानव की भावनाओं, इच्छाओं, क्रियाओं के आन्तरिक उद्देश्य को समझती है एवं उनके
दिव्य मन्तव्य को उनके सम्मुख उद्घाटित करती है । आत्मा का यह सतत संस्पर्श
उच्चकेन्द्र के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण से प्राप्त होता है । यों तो सभी भक्ति संप्रदायों
में आत्मनिवेदन का महत्व है किन्तु कृष्णभक्ति की अन्तरंगारिणी चेतना के लिये
रागभक्ति का यह प्रमुख सोपान है । नवधाभक्ति को अतिक्रमण कर उस परमा भक्ति
की स्थिति आरंभ होती है जो संपूर्णरूप से कृष्ण पर निर्भर है । ब्रज एवं बंगाल में
भक्ति का जो विशुद्ध रागमार्ग विकसित हुआ वह कृष्ण के प्रति सारी आकांक्षाओं,
भावनाओं के अर्पण से संभव हो सका । इस रागमार्ग का कोई निश्चित नियम नहीं है,

उसे स्वयं भगवान परिभाषित करते हैं । नैतिक मानदंडों के सम्मुख व्यस्त अर्जुन से श्रीकृष्ण ने जो वाक्य कहा `सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुचः` वह कृष्णभक्ति का मूलमंत्र बना । मानसिक दृष्टिकोणों से सद् असद् की विवेचना को छोड़कर व्यक्तित्व को समर्पित रूप से आराध्य कृष्ण को समर्पित करना इस साधना की प्रथम अनिवार्य शर्त है । समर्पण में व्यक्ति के अहं त्याग कर भगवान के सम्मुख प्रणत होने लगे, उन पर से धर्म का शासन समाप्त होने लगा । अब मनोविकारों को डाटने-फटकारने की चिंता धर्मशास्त्र के नियमों से बांधने की आवश्यकता नहीं रही । आवश्यकता थी उनके आलम्बन को ही बदल देने की, मनुष्य से हटाकर श्रीकृष्ण में लगा देने की । काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य यहाँ तक कि वैर भाव से भी कृष्ण को भजा जा सकता था —— भागवत में इसकी स्पष्ट स्वीकृति है । श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा भी यही थी कि उन्हें जो जिस भाव से भजता है उसे वे उसी भाव से प्रत्युत्तर देते हैं, `ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।` मन के समस्त विकार, प्राण की सारी आकांक्षायें, इन्द्रियों के आकुल आवेग श्रीकृष्ण में समर्पित होकर दिव्य प्रभा से जगमगा उठे ।

भक्ति के इतिहास में यह एक नूतन अनुभव था । भगवान के संतों से व्यक्तिगत जीवन आमूल परिवर्तित हो गया, व्यक्ति के समस्त व्यक्तित्व ने—मनोराग, इन्द्रिय वासनाएं, विचार ने—अपनी दिव्य परितुष्टि पा लिया । संतों का निराकार के प्रति प्रेम यदि उनको अभिभूत नहीं कर पाया तो इसका कारण उतना ही नहीं था कि साधारण की बुद्धि निर्गुण को ग्रहण नहीं कर सकी । कबीर के निर्गुण प्रेम में ऐसी मार्मिकता है कि वह साकार निराकार के भेद को मिटाती हुई सीधे परमात्मा से संबंध स्थापित कर देती है । प्रेम चाहे निर्गुण के प्रति हो या सगुण के प्रति वह हृदय से संबंध रखता है, बुद्धि से नहीं । श्रीराम के व्यक्तित्व में केवल दासभाव की ही गुंजाइश रह गई, उनके शील एवं शक्ति से अभिभूत रहने का वातावरण निर्मित हो सका; इससे भाव का श्रद्धांश तो तुष्ट हुआ, किन्तु राग अंश नहीं । भाव में राग की प्रधानता रहती है, श्रद्धा की नहीं । श्रद्धा के कारण एक पार्थक्य एक दूरी की अनुभूति भक्त और भगवान के बीच बनी रहती है । श्रद्धा से व्यक्तित्व के कुछ अंश विकसित हो सकते हैं, पूर्णतया परितुष्ट नहीं । जब जीवन का रूप इतना अधिक बिगड़ चुका था कि वह केवल आत्मा की पुकार से ही परमात्मा को नहीं पुकार रहा था, वह प्राण के समस्त

आवेग से ,इन्द्रियों की सारी विकलता से भगवान का आवाहन कर अपने को निवेदित कर देने पर तुला हुआ था । इसीलिये कबीरदास का ज्ञानमूलक परक प्रेम या सूफियों का नूर-ए-हक इस भारतीय जन मानस को संतुष्ट करके चुप न करा सका । उसकी अदम्य पुकार के प्रत्युत्तर में प्रभु को अपना मूल स्वरूप प्रकाशित करना पड़ा —— सम्पूर्ण आराधना के योग्य चित्ताकर्षक, इन्द्रियाकर्षक मनमोहन रूप,श्रीकृष्ण अवतार ।

सिद्धान्त पक्ष :

परमतत्व :

निर्गुण-सगुण

वेद, उपनिषद्, जिस परमतत्व को 'तत्' कह कर अव्यक्त, अगम, अगोचर, अकल अमल, अनामय, अरूप घोषित करते हैं, जिस आधारभूत सत्ता को सच्चिदानंद बताते हैं, मध्ययुगीन कृष्णभक्तिधारा में वही 'तत्' श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण, अर्थात् शक्ति-समन्वित ब्रह्म। श्रीकृष्ण ही परमतत्व हैं — कृष्णभक्ति संप्रदाय एक स्वर से इसकी घोषणा करते हैं। वह एक, नित्य, अकाल, अज, अनादि एवं अविनश्वर हैं। ब्रह्म के इस अनिर्वचनीय निर्गुण रूप का वर्णन श्रीकृष्ण स्वयं अपने मुख से ब्रह्मा के सम्मुख करते हैं —

पहिले हौं ही हौं तब एक।
अमल, अकल अज भेद विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक[1]।

वही परब्रह्म हैं। अनन्त अभिधामण्डित है इनका स्वरूप। समस्त ब्रह्माण्डों के अधीश्वर अचिंत्य और अगम हैं। सारे अवतारों के बीजस्वरूप अवतारी श्रीकृष्ण स्वयं भगवान हैं। इनसे परे और कुछ नहीं है। महावाणीकार के शब्दों में श्रीकृष्ण हैं :

" अनन्त, अनीह, अनावृत, अव्यय अखिल अंड आधीश अपार।
अंशि, अंश, आभूषण-रस करि केतनकेत लेत अवतार॥
अकल, अचिंत्य, अगम, गुनआलय, अपार तै अपार अविकार।
श्रीहरिप्रिया विराजत हैं जहां कृपासाध्य प्रापति सुकुमार[2]॥ "

किंतु नेति नेति कह कर, सार गम्य अनुभवों में 'अ' जोड़ देने पर भी ब्रह्म का बोध नहीं हो पाता। यदि हो भी पाता है तो गूंगे के गुड़ की भांति, जो इसे पाता है, वही इसका रसास्वादन कर पाता है, अन्य सब इस परमतत्व से अनभिज्ञ ही रहते हैं। सर्वसंवेद्य हो सके यह तत्व इस हेतु कृष्णभक्त इस अचिंत्य अगम तत्व को भी सगुण साकार का रूप दे कर सब के बोधगम्य रूप में वर्णित करते हैं। केवल 'निर्गुण' ब्रह्म का एकपक्षीय अपूर्ण रूप है, केवल 'सगुण' भी उसको देखने का सीमित रूप है। वास्तव में, निर्गुण-सगुण उसी एक परमतत्व के परस्पर ओत-प्रोतपक्ष हैं, उसकी

१- सूरसागर पद सं० ३८१

२- महावाणी, सिद्धान्त सुख, पद सं० २

निश्चित पूर्णता के द्योतक हो सकें । इस अव्यक्त सत्ता का ज्ञान उसके सगुण-साकार रूप में अवतरित होने पर अधिक सुगम हो जाता है । यद्यपि श्रीकृष्ण को अवतारी मानते हुए भी सभी संप्रदाय उनके पूर्णावतार होने में विश्वास रखते हैं ।

सगुण, साकार रूप देने से उस 'ब्रह्म' को मानवीय न मान लिया जाय, 'नारायण' को नर न समझ लिया जाय, इस भ्रम के निवारणार्थ महाप्रभु ने श्रीकृष्ण तत्व की प्रखर व्याख्या की है । श्रीमद्वल्लभाचार्य ने श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म के सगुण रूप की एक नई व्याख्या प्रस्तुत की । परब्रह्म निर्गुण रहते हुए ही सगुण है, वह 'निर्गुणो गुणी' है, — इस तत्व को बोधगम्य कराने के लिए आचार्य वल्लभ ने कहा कि यद्यपि श्रीकृष्ण साकार होकर सगुण प्रतिपादित होते हैं तथापि उनके गुण निर्गुण ही हैं, अर्थात् प्रकृतिजन्य विकारी गुणों से सर्वथा भिन्न दिव्य गुण हैं, श्रीकृष्ण 'स्वरूपात्मक' स्वकीय दिव्य गुणों से संवलित हैं । सत्व, रज, तम के प्राकृत गुणों से अलिप्त होने के कारण श्रीकृष्ण निर्गुण हैं, किन्तु आनंद, प्रेम, करुणा आदि निज स्वाभाविक धर्मों से विशिष्ट होने के कारण स-गुण हैं । श्रीकृष्ण में प्रकृतिजन्य जड़ गुणों की कल्पना हास्यास्पद है, उनको स्वकीय चैतन्य धर्मों से रहित मानना उनके स्वरूप की एकांगिता । सभी धर्मों के आधार होने के कारण श्रीकृष्ण धर्मी हैं, अत: दिव्य गुणों का पूर्ण प्रादुर्भाव ब्रह्म की पूर्णता का द्योतक ही है, निषेधक नहीं । सत्, चित्, आनंद — ये श्रीकृष्ण के आधारभूत धर्म हैं । 'सत्' से चराचर में व्याप्त उनकी सत्ता, उनकी स्थिति का बोध होता है, एवं अन्य को सत्ता धारण कराने की क्षमता प्रकट होती है, ~~[illegible]~~ चित् से उनका वह चैतन्य परिभाषित होता है जिसके बिना सत्ता की अवस्थिति असंभव है, सत्ता का परिज्ञान ही चित् है, एवं उस सत्ता के ज्ञान की अनुभूति का नाम आनन्द है । वास्तव में सत्, चित, आनंद परस्पर अनुस्यूत हैं, एक के बिना अन्य की स्थिति ही नहीं है, ये तीनों एक ही हैं । जहां परब्रह्म की स्थिति है वहां चेतना अवश्यम्भावी है, जहां चेतना है वहां दु:ख की संभावना नहीं, अत: आनन्द अनिवार्य ही नहीं अविच्छेद्य है । अस्तु श्रीकृष्ण विश्व के मूलाधार सच्चिदानंद हैं ।

दृश्य-अदृश्य, चल-अचल सभी कुछ उस परमतत्व में समाये हुए हैं । वह परमात्मा विश्वातीत, परात्पर, अव्यक्त होते हुए भी विश्वव्यापी एवं वैश्व है (Universal) । मानसिक बुद्धि को विरुद्ध प्रतीत होने वाले गुणों का उसमें सम्यक् समीकरण हो जाना सुकर है, सुकर ही नहीं अत्यन्त स्वाभाविक है । इसी से वल्लभाचार्य जी ने 'विरुद्ध धर्माश्रय' का सिद्धान्त रूप कर निर्धारित किया है । श्रीकृष्ण किंवा परब्रह्म सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, महान् से भी महान हैं, अणु होते हुए भी विभु हैं, कूटस्थ

होते हुए भी पास हैं, निकट रहते हुए भी दूर, मन में व्याप्त रहते हुए भी सबसे अछूते हैं। आदि अंत से रहित होते हुए भी सब के आदि अंत हैं।[1]

परब्रह्म की तीन स्थितियां : ब्रह्म, परमात्मा, भगवान : अक्षर ब्रह्म, अन्तर्यामी, पुरुषोत्तम :

श्रीकृष्ण सत्य-तत्त्व हैं, उनके अतिरिक्त लोक-लोकान्तर में और कुछ नहीं है। किन्तु इस सत्य-तत्त्व की अनेक स्थितियां हैं जिनमें से तीन मुख्य हैं — ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान। श्रीकृष्ण ज्ञानमार्गियों के ब्रह्म, योगियों के परमात्मा, तथा भक्तों के भगवान हैं। कृष्णभक्तों को श्रीकृष्ण का भगवान रूप ही स्वीकार है क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म और परमात्मा भगवान की ही आंशिक अभिव्यक्ति कहाते हैं। उनकी दृष्टि में भगवान की महत्ता सर्वोपरि है, स्वयं भगवान श्रीकृष्ण में ब्रह्म एवं परमात्मा सन्निहित हैं। भगवत्संदर्भ में परब्रह्म के इन तीनों रूपों की व्याख्यायें प्रस्तुत की गयी हैं। इस सत्य-ज्ञान लक्षण के सामान्य निरूपण के पश्चात् उपासक की योग्यता के भेद से उसकी विशिष्ट स्थितियों का वर्णन हुआ है। श्रीमद्भागवत में इस अद्वयतत्त्व को किस अभिव्यक्त किया है —

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति, परमात्मेति, भगवानिति शब्द्यते॥"[2]

इस श्लोक के क्रम में ब्रह्म प्रथम, परमात्मा द्वितीय एवं भगवान तृतीय आये हैं एवं इस क्रम का उत्तरोत्तर महत्त्व भी है। शक्ति के वैचित्र्य से अल्पसम्पन्न, अधिकसम्पन्न किंवा पूर्ण-सम्पन्न होने से परतत्त्व ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान का रूप धारण करता है। ब्रह्म परतत्त्व के साक्षात्कार का प्रथम चरण, परमात्मा मध्य एवं भगवान अंतिम चरण हैं।

जब तक उस स्वरूपशक्ति सम्पन्न अद्वयतत्त्व को पृथक करके, उनकी विचित्र शक्ति एवं उस शक्ति की वैचित्र्य [illegible] अनन्त महिमा श्रीभगवान के साथ लीलाके दर्शन करने की योग्यता नहीं प्राप्त होती, तब तक साधक के सम्मुख शक्ति और शक्तिमान की जो अभिन्नभाव की स्फूर्ति है वही 'ब्रह्म' संज्ञा धारण करती है। भगवत्संदर्भ में इसे इस प्रकार व्यक्त किया गया है —

१— आदि अंत नहिं जाकि, आदि अंतहि प्रभु सोई। सूरसागर, पद सं० १७९३

२— श्रीमद्भागवत १।२।११

"तदेकमेवाखण्डानन्दस्वरूपं तत्त्वं थूत्कृतपारमेष्ट्यादिकानन्दसमुदायानां परमहंसानां साधनवशात् तादात्म्यमापन्ने सत्यामपि तदीयस्वरूपशक्तिवैचित्र्यां तद्ग्रहणासमर्थे चेतसि यथा सामान्यतो लक्षितं तथैव स्फुरद् वा तद्वदेवाविविक्तशक्ति -- शक्तिमत्ताभेदतया प्रतिपाद्यमानं [illegible] वा ब्रह्मेति शब्द्यते ।"[1]

वेदान्तियों के परमकाम्य ब्रह्म की उपमा कृष्णभक्त श्रीकृष्ण की अंगच्छटा से देते हैं । जिस प्रकार सूर्य केन्द्रस्थानीय है एवं उसका मंडल उसकी प्रतिच्छाया है, उसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण केन्द्र हैं एवं ब्रह्म उनकी अंगज्योति है, केन्द्रस्थ भगवान की निराकार ज्योति । ब्रह्मसंहिता में कहा गया है कि कोटि कोटि ब्रह्मांड, क्षिति आदि पृथक पृथक भूतों में जो अभिव्यक्त है, उस निष्कल, अनन्त एवं अशेषस्वरूप ब्रह्म की, जो प्रभावशाली गोविंद की देहप्रभा हैं, हम आराधना करते हैं ।[2] ज्ञानीसाधक-गण ब्रह्म में शक्तिसमूह का धर्म अनुभव नहीं कर पाते, धर्मातिरिक्त केवल ज्ञान अनुभव करते हैं, इसलिए परतत्व उनके निकट केवल ज्ञान रूप में ही प्रतीयमान होता है । योगी इस परतत्व को अन्तर्यामी रूप में, सर्वजीवनियन्तारूप में अनुभव करते हैं अतः परब्रह्म उनके निकट परमात्मा रूप में प्रतिभासित होता है । स्वयं गोविन्द अपने अंश रूप से सारी सृष्टि में प्रवेश कर उसका नियमन तथा संचालन करते हैं, परब्रह्म के इस अंतर्यामी रूप के संचालक अंश को ही परमात्मा कहा गया है । परमात्मा की व्याख्या सर्वजीवनियन्ता के रूप में की गई है । परमात्मा में मायाशक्ति का प्राचुर्य तथा चित्-शक्ति का अंश विद्यमान रहता है, अतएव एक ओर वे ब्रह्म से अधिक सुव्यक्त हैं दूसरी ओर मायाशक्ति से संकलित होने के कारण भगवान के अंशमात्र हैं ।

१- भगवत-संदर्भ पृ० २

२- "यस्य प्रभाप्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम् ।
तद्ब्रह्मनिष्कलमनन्तमशेषभूतम्,
गोविंदमादिपुरुषं तमहं भजामि ।।"

ब्रह्मसंहिता ५।४६

करके अन्तर्यामी रूप से उसमें अनुप्रविष्ट हैं।[1] अन्तर्यामी एवं अक्षरब्रह्म का साम्य चैतन्य संप्रदाय के परमात्मा से है।

परब्रह्म-नराकृति : अवतारवाद:

यह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण स्वयं भगवान हैं। अन्य अवतार इनके अंश, कला आदि हैं, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं अवतारी हैं, पूर्णब्रह्म हैं। यह अवतरित रूप में भी अवतारी ही रहते हैं, इनकी पूर्णता की कोई हानि नहीं होती। अतएव: जो परब्रह्म पुरुषोत्तम है, अवतरित दशा में वह मनुजाकार यशोदानन्दन, गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण है। वस्तु सत्ता की दृष्टि से एक होने पर भी मनुष्य के अधिक निकट भगवान का अवतरित रूप ही श्रेष्ठ ठहरता है। परब्रह्म की नराकृति, अवतारी स्वयंभगवान का अवतार, अप्राकृत नरदेह, कृष्णभक्तों की दृष्टि में सर्वोत्तम साध्य भी सर्वसुलभ है। श्रीकृष्णसंदर्भ में परब्रह्म-नराकृति को ही सर्वोच्चरूप में प्रतिष्ठित किया गया है। किसी किसी के मत में गीता के एकादश अध्याय में उक्त विश्वरूप ही श्रीकृष्ण का परमरूप है। भक्तों की दृष्टि में यह एक भ्रम ही है। कारण गीता में अनुकथित वाक्य एवं वक्ता की स्थिति से श्रीकृष्ण के अवतरित नर रूप की ही सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित होती है। अदृश्यपदेशात् इत्यादि वेदान्तसूत्रानुसार शास्त्र का उपसंहार वाक्य ही उपक्रम वाक्य का अर्थ निर्णय करता है एवं उपक्रम-उपसंहार-वाक्य द्वारा निर्णीत अर्थ समग्र शास्त्र का तात्पर्य प्रकट करता है, अतः 'मन्मनाभव' इत्यादि श्लोक के वक्ता, अर्जुन के सखा रूप में विराजमान नराकृति श्रीकृष्ण ही परमस्वरूप हैं। विश्वरूप श्रीकृष्णरूप के अधीन है। यह संगत भी है क्योंकि श्रीकृष्ण ने ही विश्वरूप का दर्शन कराया है।

१- "वस्तुतः इस संप्रदाय के अनुसार अक्षरब्रह्म तथा अन्तर्यामी ब्रह्म भी पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। आविर्भाव और तिरोभाव की क्रिया द्वारा अक्षर ब्रह्म की ही अनेकरूपता होती है। अक्षर ब्रह्म से ही जीव और जगत की उत्पत्ति है। अक्षर ब्रह्म और परब्रह्म अथवा पूर्णपुरुषोत्तम अलग अलग ब्रह्म नहीं हैं, एक परब्रह्म की ही अनेक स्थितियाँ हैं।"

अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय, पृ० ४०१

विश्वरूप श्रीकृष्ण के अधीन है इसलिए इच्छामात्र से ही उन्होंने अर्जुन को उसका दर्शन करवाया, यदि श्रीकृष्णरूप विश्वरूप के अधीन होता तो वे इच्छामात्र से ऐसा न कर सकते। विशेषत: गीता के इस अध्याय में कहा गया है कि अर्जुन से ऐसा कह कर श्रीकृष्ण ने पुन: स्वीयरूप का दर्शन कराया[1]। इस स्थल पर नराकार चतुर्भुजरूप को ही स्वीयरूप कहा है। इसलिए उक्त विश्वरूप श्रीकृष्ण का साक्षात्स्वरूप नहीं है, यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। सुतरां परमभक्त अर्जुन को वह विश्वरूप अभीष्ट नहीं है यह भी स्पष्ट है। श्रीकृष्ण का स्वीय नररूप ही अर्जुन को प्रिय है, अतएव विश्वरूप दर्शन के पश्चात् अर्जुन ने कहा " जिस रूप को कभी भी नहीं देखा, तुम्हारा वह रूप देखकर भय से, विस्मय से मेरा मन अभिभूत हो रहा है।" इस वाक्य से विश्व रूप दर्शन में अर्जुन की अनभिरुचि प्रकट हो रही है।

बहुविध उपदेश के उपरान्त 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इस महोपसंहार वाक्य का श्रेष्ठत्व निर्देश करके — अर्जुन यही उपदेश ग्रहण करें — यह अभिप्राय प्रकट किया गया है।' अशोच्यान 'इत्यादि गीता का उपक्रम वाक्य है तथा 'सर्वधर्मान' इत्यादि उपसंहार वाक्य है। इन दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ है, अर्थात् 'मन्मनाभव' इत्यादि रीति से नररूप श्रीकृष्ण-भजन में प्रवृत्ति। अतएव अवतरित श्रीकृष्ण का भजन ही यहां स्वयं भगवान ने निर्दिष्ट किया है। गीता में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादि उपसंहार वाक्य के अनुरोध से, एवं 'सुदुर्दर्श' इत्यादि निजवचन प्रमाण से विश्वरूप प्रकरण को भी श्रीकृष्ण के पश्चात् समझना चाहिए। इन सब दृष्टियों से नररूप श्रीकृष्ण का सर्वोपरित्व सूचित होता है। तर्क सहित स्थापित भक्तों के इस विश्वास की व्याख्या आधुनिक युग में श्रीअरविंद के गीताप्रबंध में भी प्रकट हुई है जिसमें यह कहा गया है कि मानुषी तनु के आश्रित श्रीकृष्ण, एवं परमप्रभु जो सर्व जीवों के सुहृद हैं, एक पुरुषोत्तम के ही दो प्रकाश हैं, एक में वह अपने स्वरूप में अभिव्यक्त है अन्य में मानव के रूप में[2]।

१- इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूय: ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुन: सौम्यवपुर्महात्मा ॥ गीता ११।५०

२- **" Krishna in the human body,** मानुषीं तनुं आश्रितम्
and the Supreme Lord and Friend of all creatures are but two revelations of the same divine Purushottam, revealed there in his own being revealed here in the type of humanity". Sri Aurobindo- Essays on Gita, Ist series, P.185

निर्गुण-सगुण वपुधारी ब्रजेन्द्र-नन्दन स्वयं भगवान हैं,लीला पुरुषोत्तम हैं:

> स्वयं भगवान् आर लीला पुरुषोत्तम ।
> एइ कृष्ण नाम धरे ब्रजेन्द्रनन्दन ।।[1]
> जाको माया लखै न कोई । निर्गुन-सगुन धरे वपु सोई ।
> चौदह भुवन पलक में टारै । सो बन-बाधिन कुटी संवारै ।[2]

अवतार का यह 'मानुषीं तनुं' ही 'रहस्यं उत्तमम्' को उद्घाटित करने का अनिवार्य साधन है । इसीलिए कृष्णगीता में कहा गया है कि देवकीपुत्र गीत ही एकमात्र शास्त्र है,देवकीपुत्र ही एकमात्र देवता है,देवकीपुत्र सेवा ही एकमात्र कर्म है,देवकीपुत्र नाम ही एकमात्र नाम है । यहां देवकीपुत्र शब्द से अवतरित श्रीकृष्ण ही उद्दिष्ट हैं । इसी महान तत्व को कृष्णभक्त गद्गद कंठ से बारम्बार इस प्रकार घोषित करते हैं कि जिनका ध्यान अनेक यत्न करके भी सुर नर मुनि नहीं धर पाते,उन्हीं पुरुषोत्तम को यशोदा एक निरीह शिशु की भांति प्रेमोल्लसित पालने में झुलाती हैं । रसखान ने अपने सवैयों में इस भाव का सुन्दर निरूपण किया है ।

> सेस,गनेस,महेस,दिनेस,सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
> जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुबेद बतावैं।।
> नारद से सुक ब्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं
> ताहि अहीर की छोहरियां छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ।।[3]

शक्ति-- अंतरंग,बहिरंग,तटस्थ अथवा ह्लादिनी,संवित,संधिनी: श्रीकृष्ण अद्वयतत्व हैं, स्वजातीय,विजातीय स्वगत भेदों से रहित शुद्ध अद्वैत हैं । इससे पूर्व न और कोई तत्व था न इससे परे कुछ और है । किन्तु शक्ति का अवस्थान पुरुषोत्तम से अविच्छेद्य है । उपनिषद् में कहा गया है :

> 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
> न तत्सम श्चाभ्यधिकश्च दृश्यते
> पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
> स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च'

शक्तिमत्ता भगवान किंवा पुरुषोत्तम का स्वाभाविक गुण है,आगन्तुक नहीं । ब्रह्म एवं परमात्मा से पुरुषोत्तम की विशेषता उनमें प्रस्फुटित शक्ति के वैचित्र्य-विलास के कारण हैं । वस्तुत: शक्तिसमन्वित ब्रह्म ही पुरुषोत्तम हैं, भगवान हैं । शक्ति

१- चैतन्य चरितामृत,मध्यलीला :२०वां परिच्छेद: पृ० २४८
२- सूरसागर,पद सं० ६२२

के अतिरिक्त उनकी कोई स्थिति ही नहीं है, शक्ति और शक्तिमान एक ही तत्व के दो अभिन्न पक्ष हैं। शक्ति का तात्पर्य पदार्थ के आत्मसंपोषण एवं आत्मप्रकाशन की क्षमता से है। पदार्थ की सत्ता से पदार्थ की शक्ति अभिन्न है। किन्तु इस अभिन्नता में वैचित्र्य की, भिन्नता की हानि नहीं होती। वैचित्र्य-विहीन नैरात्म्य ब्रह्म की निरपेक्ष स्थिति सृष्टि को नहीं समझा सकती। ब्रह्म की शक्ति को केवल माया कह कर ब्रह्म से उसकी पृथक स्थिति का व्यावहारिक पक्ष स्वीकार करके वेदान्त द्वारा प्रतिपादित सृष्टि की व्याख्या अपूर्ण रह गई। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो माया कैसे उनसे पृथक् है ? मायावादियों का निराकरण कर कृष्णभक्ति के आचार्यों ने श्रुति के आधार पर एक सम्यक् शक्तिवाद की प्रस्थापना की। श्रीकृष्ण में विशुद्ध, विकारी दोनों शक्तियों का संस्थापन किया गया है। पुरुषोत्तम से मायाशक्ति की एकात्मकता नहीं है यह तो गीता में भी कहा गया है, किन्तु वे उसके संचालक हैं यह भी स्वीकार किया गया है। अतएव एक ओर श्रीकृष्ण परात्परकप में सीमाओं के परे हैं, आत्म-स्थित (सत्) आत्मबोध (चित्) एवं आनंदमय (आनंद) हैं; दूसरी ओर सृष्टि के निमित्त कारण भी हैं। यह आत्मस्थिति, आत्मचैतन्य, आत्मानंद की क्षमता उनका स्वरूप है, अतएव सच्चिदानंदगुणशालिनी क्षमता स्वयं उनकी अन्तरंग किंवा स्वरूपशक्ति है। इसी शक्ति के बहिर्मुखरूप को माया कहते हैं, जड़ में प्रतिबिम्बित चिच्छक्ति ही मायारूपिणी होकर कार्य करती है। कृष्ण की अंतरंग शक्ति के द्वारा उनका निज स्वरूप प्रकाशित होता है एवं माया के द्वारा वे अपने को जगत की विविधता एवं परिवर्तन में तिरोहित करते हैं। इन दोनों शक्तियों में परस्पर विरोधकता है। इन दोनों की मध्यस्था एक और शक्ति है जिसे तटस्थ शक्ति कहते हैं, इस शक्ति के द्वारा पुरुषोत्तम असंख्य जीव रूपों में, आत्मानुभूति के असंख्य अनुभव-केन्द्रों में, अपना विस्तार करते हैं। इस तटस्थ-शक्ति में उनका रूप मध्य-वर्ती अवस्था में रहता है — न तो पूर्णतया उद्घाटित और न ही पूर्णतया तिरोहित। तटस्थशक्ति से संभूत जीव माया की परिसीमा में भी रहते हैं किंतु स्वरूप शक्ति के अंश से उस सीमा का अतिक्रमण कर जाने की क्षमता भी रखते हैं।

बहिरंग तटस्थ, अन्तरंग शक्तियों को ही क्रमशः संधिनी, संवित एवं ह्लादिनी कह कर अभिहित किया जाता है। संधिनी सत्तात्मक है इसके द्वारा भगवान स्वयं

सत्ता धारण करते हैं एवं दूसरों को धारण कराते हैं, संवित किंवा चिदंशमयी शक्ति के कारण वे स्वयंप्रकाशित होते हैं एवं अन्य का प्रकाशन करते हैं, यह सच्चिदानंद के चित् रूप का प्रतिनिधित्व करती है तथा ह्लादिनी के द्वारा वे अपना अनुभव (संवित्) आनन्दरूप में करते हैं एवं अन्य को भी वैसा ही अनुभव कराते हैं। इस प्रकार सच्चिदानंद के अनुरूप पुरुषोत्तम की शक्ति के क्रमशः तीन रूप हुये -- संधिनी, संवित, ह्लादिनी। यों तो भगवान इन तीनों शक्तियों के मूल आश्रय हैं किंतु एकमात्र अंतरंग ह्लादिनी ही उनकी आत्ममाया है क्योंकि उसमें वह अनाविल भाव से, अक्षुण्ण रूप से प्रतिष्ठापित रहते हैं। बहिरंग माया शक्ति तथा तटस्थ जीवशक्ति भगवान के परमात्म रूप से उद्भूत होने के कारण उनसे सीधे संबंधित नहीं है, उनका सीधा संबंध पुरुषोत्तम से न होकर अक्षर ब्रह्म से है। इन दोनों में से भी तटस्थशक्ति में उभयांश--माया एवं स्वरूपशक्ति का अंश -- होने के कारण वह दोनों से समान निकटता पर है, अंतरंग-शक्ति की समीपता भी उसे प्राप्त है। किंतु मायाशक्ति भगवान की नितान्त बहिरात्मिकाशक्ति है। पुरुषोत्तम से उसका संबंध अत्यन्त परोक्ष है। श्रीशशि भूषण दासगुप्त महोदय ने कहा है कि " दासी जिस प्रकार प्रभु (गृहपति) की आश्रिता होती है, उसके आश्रय में ही रह कर वह मानो प्रभु से दूर रह कर प्रभु की ही तृप्ति के लिए बाहरी आंगन में सभी प्रकार के सेवा कार्य किया करती है, मायाशक्ति भी ठीक वैसी है। भगवान की आश्रिता होकर, वह भगवान की बहिर्द्वारिका सेविका की भांति सृष्टि आदि कार्यों में लगी रहती है -- घर की गृहिणी जिस प्रकार पतियों के द्वारा वशीभूत होकर रहती है भगवान भी उसी प्रकार अपनी चिच्छक्ति या स्वरूप-शक्ति के द्वारा माया को वशीभूत रख कर सभी प्रकार के प्राकृत-गुण-स्पर्शहीन की भांति अपने में, केवल अपने में अवस्थित हैं।"[1]

<u>ह्लादिनी का उत्कर्ष</u>

संधिनी, संवित, ह्लादिनी में उत्तरोत्तर शक्तियां पहिले की अपेक्षा अधिक पूर्ण हैं। संधिनी में केवल सत् है। संवित में सत् एवं चित् है, ह्लादिनी में सत् चित् के साथ ही आनंद भी है। इस प्रकार ह्लादिनी शक्ति सर्वोपरि है, उसमें ऊपर दोनों शक्तियों का समाहार हो जाता है क्योंकि आनंद की स्थिति चैतन्य से ही और चैतन्य सत्ता के आधार से ही संभव है। अतः सत्तात्मक चैतन्य को आनंद रूप में

१- श्रीराधा का क्रम विकास, पृ·

अनुभूति ह्लादिनी द्वारा ही संभव है। अतएव ह्लादिनी का महत्व सभी कृष्ण-भक्तिसंप्रदायों में सर्वाधिक है। राधा ही ह्लादिनी शक्ति है। राधा को ह्लादिनी शक्ति कह कर उनका सम्यक् विवेचन चैतन्य सम्प्रदाय में हुआ है किन्तु आनंदरूपिणी राधा की महत्ता स्वीकार करने से सभी सम्प्रदायों में ह्लादिनी की दुन्दुभी का स्वर सुनाई पड़ता है[1]। इस ह्लादिनी किंवा स्वरूप शक्ति का महत्व इसलिए भी और अधिक है कि वह ईश्वरकोटि एवं जीव कोटि दोनों के बीच समानरूप से विचरण करती है। श्री तथा माध्व संप्रदाय में जो स्थान लक्ष्मी का है वही स्थान कृष्णभक्ति संप्रदायों में राधा का है। ये जीव एवं कृष्ण का संबंध सूत्र जोड़ने वाली शक्ति कही गयी हैं। माया से असंपृक्त ईश्वरकोटि में रह कर भी ह्लादिनी संसारबद्ध जीव कोटि के प्रति करुणा-विगलित रहती हैं तथा इन दोनों कोटियों के बीच सेतु का निर्माण करती हैं। ईश्वरविमुख जीवों पर आच्छादित बहिरंग माया का प्रभाव हटा कर यह उन्हें भगवदोन्मुखी करती हैं। इस ह्लादिनी का स्वभाव आनन्दमय भगवान को आह्लादित करना तो है ही, जीव को भी आह्लाद प्रदान करना है। भगवतकोटि में यह असीम आनंद के लीलारस का प्रसार करती हैं और जीवकोटि में अनुप्रविष्ट होकर यह भक्ति का आनंद विधान करती हैं।

[illegible]

अतः व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों दृष्टि से ह्लादिनी शक्ति का उत्कर्ष सिद्ध होता है। यह ह्लादिनी संपूर्ण शक्ति हैं, इनसे स्वतंत्र किसी शक्ति की अवस्थिति नहीं है, और न ही इनसे परे कोई शक्ति है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से अभिन्न यह शक्ति 'राधा' नाम से पुकारी गई है। आख्यानों एवं प्रचलित किंवदन्तियों में राधा चाहे आभीर बाला रही हों, चाहे परकीया नायिका कृष्णभक्तों की दृष्टि में वे शक्तिमान पुरुषोत्तम की साक्षात् पूर्णशक्ति हैं। वह कृष्ण की 'श्री' हैं, कृष्ण

१- नित्यसिद्धि आह्लादिनी देवी, आगम निगम अगोचर भेवी।
अति अगाध महिमा अपरेवी, अखिल लोक सुखसंपति सेवी।।१०।। सहज सुख, महावाणी।

रसघन मोहन मूर्ति,
    विचित्रकेलि-महोत्सवोल्लसितम्।
राधा-चरण विलोड़ित
    रुचिर शिखण्ड-हरि वन्दे।।

राधासुधानिधि पद सं० २००

से अभिन्न । श्रीकृष्ण अद्वयतत्व हैं सही किन्तु यह अद्वय-तत्व द्वैताभास में ही अपनी पूर्णता संपादित कर पाता है । "एक" की स्वतंत्रता एवं पूर्णता में यह द्वैतता बाधक नहीं है वरन् एक की पूर्णता ही द्वैत - सा प्रतिभासित होने में है । इसलिए राधाकृष्ण दो दिखते हुए भी एक ही हैं वे "एक" अद्वय ही हैं, अधिक से अधिक उनके इस द्वैताभास को "जोड़ी" कहा जा सकता है । वही एकतत्व शक्तिरूप से राधा है और शक्तिमान रूप से कृष्ण । शक्ति से अलग न तो शक्तिमान की स्थिति संभव है, न शक्तिमान से स्वतंत्र शक्ति की; जहां एक है वहां दूसरा अवश्य है । रश्मि से पृथक् सूर्य, दाहकत्व से पृथक अग्नि, की कल्पना भी संभव नहीं है -- ऐसा ही संबंध शक्ति और शक्तिमान, राधाकृष्ण का है । स्वरूप एक ही है, नाम दो हैं[1] । राधा का संबंध सतत, सर्वदा, एकरस, अखण्ड है, अनादि है, अज है, अनारोपित एवं सहज है[2] । राधाकृष्ण के अभेद का कथन सर्वत्र ही अत्यन्त दृढ़तापूर्वक किया गया है । ऐक्य में द्वित्व होना किंवा द्वित्व में ऐक्य (Two - in - One) - यह तत्व मानवबुद्धि के ससीम तर्कों के लिये इतना दुरूह एवं अगम है कि इसे भलीभांति अवगत करने में कोई भी रूपक सहायक नहीं होता । चिंतन एवं युक्ति से परे अध्यात्मजगत की यह अनुभूति बुद्धिव्यापार से अगम तो है ही, वाणी से भी व्यक्त नहीं की जा सकती । भेद में अभेद, अभेद में भेद एक ऐसी पहेली है जिसकी व्याख्या सहज संभाव्य नहीं है । वस्तुतः, बंगाल के वैष्णव आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने इस भेदाभेद को "अचिंत्य भेदाभेद" का सिद्धान्त कह कर स्थिर किया । इसी की ओर इंगित करते हुए हरिव्यास देवाचार्य जी ने कहा है --

"अद्वय-द्वय बहु भेद विशेषन आदि आभास अचिंत्य अनन्त"[3]

1- एक स्वरूप सदा द्वै नाम ।
आनंद के आह्लादिनि श्यामा आह्लादिनि के आनंद श्याम ।
सदा सर्वदा जुगल एक तन एक जुगल तन विलसत धाम ।।२६।। सिद्धान्तसुख, महावाणी

2- निरवधि नित्य अखंडल जोरी गोरी श्यामल सहज उदार ।
आदि अनादि एकरस अद्भुत श्रुतिपरे पर सुखदासार ।।२।। महावाणी, सिद्धान्तसुख ।

3- महावाणी, सिद्धान्त सुख, पद सं० १४

ईश्वर-शक्ति :

इस प्रकार यह सच्चिदानंद ब्रह्म तत्व सांख्य के द्वित्व— पुरुषप्रकृति —से भिन्न है। राधाकृष्ण का वर्णन अनेक कवियों ने प्राय: सांख्य के प्रकृति-पुरुष की भांति किया है, किन्तु इस बात का उन्होंने सदैव ध्यान रखा है कि उनकी सच्चिदानंदमयी राधा सांख्य की जड़ प्रकृति नहीं हैं, त्रिगुणात्मिका प्रकृति नहीं हैं, मूलप्रकृति, पराप्रकृति हैं, भगवान की आत्म-माया हैं। उन श्रीकृष्णमयी सांख्य के पुरुष की भांति इस प्रकृति से निर्लिप्त तटस्थ दृष्टा मात्र नहीं है, वे शक्ति के वैचित्र्य में रस लेने वाले, उसके नियन्ता अनुमन्ता पुरुषोत्तम हैं। यह उपनिषद् के ईश्वर-शक्ति की कल्पना है, सांख्य के पुरुष प्रकृति का विवेचन नहीं। जिस प्रकार ईश्वरशक्ति प्रकृति पुरुष से परे है, वैसे ही राधा कृष्ण भी सांख्यप्रतिपादित जड़ प्रकृति तथा साक्षी पुरुष से परे हैं। प्रकृति - पुरुष से ही नहीं, नारायण आदि सभी ईश-वर्गों से परे राधा कृष्ण का युग्म सब के ऊर्ध्व में आसीन है। योगियों के परमात्मा, ज्ञानियों के ब्रह्म उनकी अपूर्ण अभिव्यक्तियां हैं, सच्चिदानंद पुरुषोत्तम-शक्ति सभी के ईश हैं।[1] क्षर-अक्षर, परा-अपरा सभी के अधिष्ठाता हैं, सबके स्वामी हैं।[2] इस प्रकार भक्ति रूप में राधा कृष्ण ब्रह्मा विष्णु महेश एवं उनकी शक्तियों की स्वामी से परे हैं। ब्रह्मा विष्णु महेश भी यहीं श्रीकृष्ण का गुणावतार है। श्रीकृष्ण के ये अंशमात्र हैं। सृष्टि के सर्जक ब्रह्मा 'बालवत्सहरण' लीला के उपरान्त श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहते हैं कि उनके एक एक रोम में सौ सौ ब्रह्मा हैं, उनकी सत्ता परब्रह्म श्रीकृष्ण के सम्मुख अत्यंत तुच्छ एवं नगण्य है। स्वयं विष्णु जिन्हें साधारणतया श्रीकृष्ण का अवतारी कहते हैं, श्रीकृष्ण से अपनी हीनता प्रदर्शित करते हुए लक्ष्मी से कहते हैं कि रासरस उनसे अत्यंत दूर है। श्रीकृष्ण विश्वातीत हैं, परात्पर ब्रह्म हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश सर्जन, पालन, संहार की क्षमता रखते हुए भी श्रीकृष्ण के गुणावतार हैं। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का राधा के संग विहार अत्यन्त ऊर्ध्व में स्थित है, गोलोक है। यह जोड़ी विश्वदेव की वंद्य है, राधा कृष्ण सबके 'अधिप' हैं, इनसे परे और कुछ नहीं है।[3]

१- निर्विकार निराकार, चैतन्यघन विश्वव्यापक प्रकृति पुरुष के ईश।
अवतारनि परब्रह्म परमात्मा सर्वकारन परं ज्योति जगदीश ।।१०। सिद्धान्तसुख-महावाणी

२- परावरादि सकल के स्वामी, निरवधि नामी नाम निकाय।
नित्यसिद्ध सर्वोपरि हरिप्रिया, सब सुखदायक सहज सुभाव ।।२०। सिद्धान्तसुख-महावाणी

३- आनंदमय अंग अंगित ईश्वर अधिप अनंत विश्वैश्वर्य रूप अधिकार।
इन्दिरेशादि उद्भूत उपेन्द्रादि उत्कट अनन्यादि कारन कारि।

अनुभूति की चरम जिज्ञासा की अन्तिम सीढ़ी है। जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्म का रस 'मन वाणी से अगम अगोचर' कही जाने की वस्तु है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के माधुर्य का रस भी अगम्य, अनिर्वचनीय है। इस माधुर्य को जब लीलाशुक बिल्वमंगल अभिव्यक्त करने में विरक्त होने लगे तब केवलमात्र 'मधुरं मधुरं' की झंकार में शान्त हो गये :

'मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो
मधुरं मधुरं वदनं मधुरं ।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो
मधुरं मधुरं मधुरं मधुरं ।

श्रीकृष्ण का माधुर्य श्रीराधा के सान्निध्य में चरम उत्कर्ष प्राप्त करता है इसलिए राधाकृष्ण का युगलरूप ही ब्रज एवं बंगाल की कृष्ण-भक्ति-धारा का परम उपास्य है। माधुर्यमंडित राधा-कृष्ण ही परमतत्त्व हैं[1]।

राधा : परमाराध्या :

राधावल्लभसंप्रदाय में किन्तु स्थिति कुछ भिन्न है। यहाँ युगल रूप स्वीकार्य तो है किन्तु राधा की उपासना है। राधा की स्थिति कृष्ण की शक्ति के रूप में ही नहीं, स्वतंत्र रूप में भी है। वे आनन्दस्वरूपिणी परादेवता हैं। कृष्ण उनके अधीन हैं। अपने संप्रदाय की मान्यता को स्पष्ट करते हुए हितहरिवंश जी ने कहा है :

१- 'यद्यपि कृष्णसौंदर्य माधुर्येर धुर्य ।
ब्रजदेवीर संगे तार बाढ़ये माधुर्य ।।
. . . .
अतएव कहि राधार प्रेम साध्यशिरोमणि ।
जाहार महिमा सर्वशास्त्रेते बाखानि ।। चैतन्य चरितामृत मध्यलीला पृ० १४०।।

' सहज सुख रंग की रुचिर जोरी ।
बरनि न सकत कहुं नाहिं देखी सुनी सकल-गुन-कला-कौशल किशोरी ।
एकहीं है कुंवर है एकहीं दीपहिं दिन किधिं साँचे निपुनतर करि सुढोरी ।
श्रीहरिप्रिया यही हित नाते तन दरसत एक तन एक मन एक जोरी ।।
सहज सुख — महावाणी ।

" रसी लोक कहूं नाहिं दियो ।

मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा जसा कहीं कृपा किये ।।[1]"

श्रीकृष्ण एक उनके उपासक बन कर उपस्थित होते हैं। राधाकृष्ण का नित्यविहार यहां मान्य अवश्य है किन्तु सेव्य श्रीराधिका हैं और सेवक श्रीकृष्ण[2]। राधा ही इस संप्रदाय की अधिष्ठातृदेवि हैं। कृष्ण उनके अनुगत आश्रित हैं। निकुंजलीला में व्रज-लीला की भांति कृष्ण का प्राधान्य नहीं है, वरन् राधा का प्राधान्य है। अस्तु उपास्य की दृष्टि से राधा ही सर्वोपरि हैं, कृष्ण एवं अन्य सहचरियां उनके आश्रित हैं[3]। राधा सच्चिदानंदरूपा हैं, वही सर्वेश्वरि हैं[4]।

श्रीकृष्ण का सापेक्षिक महत्व :

इसके विपरीत वल्लभ संप्रदाय में राधा की अपेक्षा कृष्ण का अधिक महत्व है। कृष्ण की ही अधिक प्रतिष्ठा पुष्टिमार्ग में परिलक्षित होती है। यद्यपि कृष्ण राधा से अपना अभेद स्वीकार करते हैं[5], किन्तु तब भी केवलमात्र राधाकृष्ण की ही प्रतिष्ठा

१- स्फुटवाणी पद सं० २०

२- " यहां सेव्य श्रीराधिका सेवक नौलकाल ।
ये सरीर ये अंड़या यह निकुंज की चाल ।।३३।। [illegible], राधावल्लभ सिद्धान्त?, पृ. ६५

३- अंग अंग प्रति फूल भार, आनन्द उर न समाइ ।
भाग मानि पछितानि करि, कही लाल सिर नाइ ।
सर्वोपरि राधा कुंवरि पिय प्राननि के प्रान ।
ललितादिक सेवत जिनहिं, अति प्रवीन सुजानि ।।
ध्रुवदास- ब्यालीस लीला, वृन्दावनपुराण की भाषा टीका, पृ० ३९।

४- सर्वेश्वरि जस नाम, यह निगमनि सुनी ।
नित नित आनंद धाम, श्रीराधा करि कृपा मम ।।५।। श्रीकृष्ण अभिलाषावेलि - पृ.२
चाचा वृन्दावन दास ।

५- " ब्रजहिं बसैं आपुहिं बिसरायी ।
प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु बातनि भेद करायी ।।
जल थल जहां रहौ तुम बिनु नहिं बेद उपनिषद गायी ।
द्वै तन जीव-एक हम दोउ, सुख-कारन उपजायी ।
ब्रह्मरूप द्वितिया नहिं कोऊ, तब मन तिया जनायी ।
सूर स्याम मुख देखि अलप हंसि, आनंद पुंज बढ़ायी ।।
सूरसागर, पद सं० २३०५ ।

इस संप्रदाय में नहीं है। यद्यपि राधाकृष्ण की भृंग-कीट की भांति तद्रूपविशिष्ट गोपियों की लालसा है, किन्तु आरम्भ से ही ये इस अद्वैत-युगलरूप की उपासिका नहीं हैं। कृष्ण के साथ गोपियों का स्वतंत्र-संबंध भी है, राधा की उपासिका किंवा राधा कृष्ण के सम्मिलित रूप की वर्णित हैं रूप में नहीं। वे राधा के भाव की प्रशंसा अवश्य करती हैं किंतु राधा की आराधना नहीं करतीं। अतः उपास्य की दृष्टि से राधाकृष्ण के साथ गोपीकृष्ण भी प्रारंभिक अवस्था में उपास्य रहे होंगे। अंत में अवश्य राधाकृष्णादि युगल जोड़ी को ही साधना का लक्ष्य माना है, जैसा कि सूरदास जी की वाणी से प्रकट होता है। देहावसान के समय उन्होंने अपनी नेत्र की वृत्तियों को राधा के रूप में अटका हुआ बताया एवं चित्त की वृत्ति को राधा भाव में। इस प्रकार अन्ततः राधा की भी उतनी ही प्रतिष्ठा हो जाती है जितनी कृष्ण की। किंतु उपास्य के रूप में युगल-वंदना कम हुई है। पुष्टिमार्गीय श्रीकृष्ण का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वे सारी लीला में सूत्रधार हैं। आराध्य के रूप में उनका जितना महत्व है उतना राधा का नहीं। परब्रह्म के रूप में श्रीकृष्ण का यशोगान ही पुष्टिमार्गीय कवियों का मुख्य लक्ष्य है।[1] इस संप्रदाय के मूल इष्टदेव भी कृष्ण ही हैं: बालकृष्ण।

माया : शुद्ध एवं विकृत

श्रीकृष्ण की शक्ति के दो रूप प्रमुख हैं : स्वरूपशक्ति किंवा अन्तरंग शक्ति तथा बहिरंग शक्ति किंवा माया शक्ति। तटस्थ शक्ति इन्हीं दो की मध्यवर्तिनी स्थिति है। इस प्रकार माया श्रीकृष्ण की ही शक्ति है। शक्ति के दो रूप हैं - प्राकृत किंवा जड़शक्ति, अप्राकृत किंवा चित्शक्ति। पहली को वल्लभाचार्य जी ने व्यामोहिका एवं दूसरी को करण माया कहा है। व्यामोहिका ही बहिरंग शक्ति है तथा यह करण-माया अन्तरंग शक्ति है।

१- जै जै जै श्रीकृष्ण, रूप, गुन, कर्म अपारा।
परमधाम, जग-धाम, परम अभिराम उदारा।।...५।।

निज प्रभाव, प्रतिपाल, प्रलय कारक, आयस-कर।
जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, धाम पाकृत प्रकृति।।
इन्द्रियगन मन-प्रान, इनहिं परमातम भासै।
षट्गुन अरु अवतार-धरन नारायन जोई।
सबकौ आश्रय अवधि-भूत नंद नंदन सोई।।६।।

सिद्धान्त पंचाध्यायी, नंददास-भाग २, पृ० १

आत्मरमण की इच्छा रास है, एवं राधा रास की अनिवार्य शृंखला हैं।[1] सारी गोपियां राधा ही की अंश हैं। लक्ष्मी महिषी एवं व्रजांगनायें सभी श्रीराधिका की विस्तार हैं। लक्ष्मीगण उनकी अंशविभूति हैं, महिषियां उसी प्रकार उनकी बिम्ब हैं। लक्ष्मीगण उनके वैभव की विलासांश रूप हैं, महिषीगण प्राभव प्रकाश स्वरूप, तथा आकार स्वभाव भेद से व्रजदेवियां उनकी कायव्यूह हैं। बहु कान्ताओं के बिना योगमाया किंवा आत्ममाया लीला के उल्लास के लिए अपना नाना रूपों में प्रकाश करती हैं। व्रज में नाना भावों की लीलायें भी राधा द्वारा ही संचालित होती हैं, केवल मधुर भाव की ही वह संपोषिका नहीं है वात्सल्यादि सारे भावों की अधिष्ठात्री भी पराप्रकृति राधिका ही हैं। चैतन्य चरितामृत में विस्तारपूर्वक इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए कहा गया है :

* कृष्णेर कराय जैछे रस आस्वादन ।
क्रीड़ार सहाय जैछे शुन विवरण ।।
कृष्णकान्तागण देखि त्रिविध प्रकार ।
एक लक्ष्मीगण पुरे महिषीगण आर ।।
व्रजांगनारूप आर कान्तागण सार ।
श्रीराधिका हैते कान्तागणेर विस्तार ।।
अवतारी कृष्ण जैछे करे अवतार ।
अंशिनी राधा हैते तिन गणेर विस्तार ।।
लक्ष्मीगण रूप तार अंश-विभूति ।
बिम्ब-प्रतिबिम्बस्वरूप महिषीर तति ।।
लक्ष्मीगण तार वैभव विलासांशरूप ।
महिषीगण प्राभव, प्रकाशस्वरूप ।।

---

* सम्यक् वासना कृष्णेर इच्छा रासलीला ।
रासलीला-वासनाते राधिका शृंखला ।।
ताहा बिनु रासलीला नहि भाय चित्ते ।
मण्डली छाड़िया गेला राधा अन्वेषिते ।।
चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, पृ० २४१ ।

अवश्य कुछ अधिक गहन है, किन्तु सिद्धान्त विवेचन में अथवा लीलावर्णन में पराशक्ति पर ही सारा ध्यान केन्द्रित किया गया है । अपरा माया का सिद्धान्त सुचारु रूप में विवेचन कृष्णभक्ति संप्रदायों में नहीं हुआ है । जो भी हुआ है उससे उस शक्ति का उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता । वस्तुतः अपरा प्रकृति में पराप्रकृति का सारा रहस्य छिपा हुआ है । अपरार्द्ध में परार्द्ध सच्चिदानंद अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर उसमें ही आत्मोद्घाटन की लीला रच रहा है । अपरा प्रकृति पराप्रकृति की छाया है, उसके भीतर से परा का प्रकाश प्रस्फुटित होकर उसे अपने में रूपान्तरित[1] कर रहा है । यह अविद्या अपने मूलस्वरूप विद्या में परिणत होना चाहती है ।

जीव

<u>ब्रह्म और जीव</u> : पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं, परम (Absolute) हैं, किन्तु उनके उस सर्वस्वत्व में जीव का तिरस्कार नहीं, स्वीकार है । जीव उनसे ठीक उसी प्रकार संयुक्त है जैसे अग्नि से स्फुलिंग[2] या समुद्र से लहर । चैतन्यमतानुसार जीव सच्चिदानन्द

But if we find that knowledge and Ignorance are light and shadow of the same consciousness, that the beginning of Ignorance is a limitation of knowledge, that it is limitation that opens the door to a subordinate possibility of partial illusion and error, that the possibility takes full body after a purposeful plunge of knowledge into a material inconscience but that the knowledge too emerges alon with an emerging consciousness out of the Inconscience, then we ca be sure that this fullness of Ignorance is by its own evolution is changing back into a limited knowledge and can feel the assurance that the limitation itself will be removed and the full truth of things become apparent, the cosmic Truth free itself from the cosmi Ignorance. In fact, what is happening is that the Ignorance is seeking and preparing to transform itself by a progressive illumination of its darkness into the knowledge that is already concealed within it, the cosmic truth manifested in its real essen and figure would by that transformation reveal itself as essence and figure of the Supreme Omnipresent Reality". The Life Divine P.4

(New York ~~Exx~~ Edition Ist ed

२- विस्फुलिंगा इवाग्नेः [illegible] । तत्त्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, श्लोक २३

<u>जीव की दो स्थितियाँ</u>

परब्रह्म से तत्त्वतः एक होने के कारण जीवात्मा में अज्ञान नहीं है। वह ज्योतिस्वरूप एवं अप्राकृत है। जीवात्मा शरीर मन प्राण से युक्त है, यद्यपि उनमें भी वह अपनी चैतन्य से पारव्याप्त है। ये तत्त्व परिवर्तनशील होने के कारण अनित्य हैं किन्तु जीव ब्रह्म का अंश होने के कारण नित्य है, सनातन है। तटस्थशक्ति जीव में स्वरूपशक्ति के कारण चिन्मयता है, किन्तु बहिरंग शक्ति के कारण उसमें जड़ता आ जाती है और वह अज्ञान-बद्ध हो जाता है। जीव की इन दो स्थितियों को चैतन्य-सम्प्रदाय में नित्य-मुक्त और नित्य-बद्ध या नित्य-संसार कहा गया है[1]। पर जीव की बद्धता नित्य नहीं होती, स्वरूपशक्ति के प्रकाश से अज्ञानजन्य संसार-दशा समाप्त हो जाती है। यह नित्य-मुक्त और नित्य बद्ध का विभाग स्वतंत्र भेद अपूर्ण है। वल्लभाचार्य जी ने जीवकोटि का व्यापक रूप उपस्थित किया है। जीव दो प्रकार के होते हैं—दैवी, आसुर आसुरी। आसुरी के दो भेद हैं—अज्ञ, दुर्ज्ञ। अज्ञ का कृष्ण में उत्कट वैर भाव होता है। वैरीभाव से उसका उद्धार हो जाता है। दुर्ज्ञ का कभी उद्धार नहीं होता। दैवी जीव के अंतर्गत पुष्टि(कृपाकांक्षी या कृपाप्राप्य) जीव तथा मर्यादा(स्वर्ग या मुक्ति के आकांक्षी) जीव हैं। पुष्टि जीव में नित्य-सिद्ध भक्त(शुद्ध-पुष्ट), केवल कृपा के प्रति जागरूक जीव(पुष्टि-पुष्ट), कृपाकांक्षी मर्यादाचारी जीव (मर्यादा पुष्ट) एवं कृपाभिलाषी सांसारिक जीव (प्रवाही पुष्ट) आ जाते हैं। इनमें से केवल शुद्ध पुष्ट जीव ही नित्य-मुक्त हैं, अन्य सभी जीव बद्ध होते हुये भी कृष्ण-कृपा से संसार-पाश से मुक्ति पा जाते हैं। अस्तु दुर्ज्ञ के अतिरिक्त कोई जीव-कोटि नित्य-बद्ध या नित्य-संसार नहीं रहती।

<u>अविद्या</u> : जिन उपकरणों को जीवात्मा अन्यग्रहण करने में अपनाती है वे उसके मुक्तस्वरूप के प्रकाशक न बनकर उसे आच्छादित कर देते हैं। शरीरबद्ध होने पर जीवात्मा

१- सेइ विभिन्नांश जीव दुइ त प्रकार।
एक नित्यमुक्त एक नित्य-संसार॥ चै०च० मध्यलीला :२२वाँ परिच्छेद: पृ०२४३

देता । पुरुषोत्तम का विश्वातीत रूप भी है । वस्तुतः सृष्टि अक्षर ब्रह्म का प्रसार है । पुरुषोत्तम इससे भी परे है । सृष्टि में मणि के सूत की भाँति अनुस्यूत होने पर भी श्रीकृष्ण इससे पृथक हैं ।[1] इस प्रकार श्रीकृष्ण अक्षर ब्रह्म के रूप में इस सृष्टि के परिणाम भी हैं और पुरुषोत्तम रूप से इससे परे भी । किन्तु सृष्टि को गणितानंद अक्षर-ब्रह्म की आत्म परिणति मानने पर एक समस्या उपस्थित हो जाती है । वह यह कि यदि साक्षात् पुरुषोत्तम से सृष्टि उत्पन्न नहीं है तो जगत श्रीकृष्ण का वास्तविक अनुवाद भी नहीं है । अगणितानंद की रचना तो वृन्दावन की अप्राकृत सृष्टि में देखने को मिलती है । अतः पुरुषोत्तम या भगवान रचित वृन्दावन और परमात्मा किंवा अक्षर-ब्रह्म संभूत जगत दो पृथक सृष्टियाँ ठहरती हैं । श्रीकृष्ण अपनी रचना वृन्दावन में ही पुष्ट हैं, इस सृष्टि से पुरुषोत्तम को कोई सरोकार नहीं है । पर अक्षरब्रह्म के द्वारा पुरुषोत्तम ने जगत को उत्पन्न ही क्यों किया, क्या इसलिये कि संभूत जीव जगत में जाकर वृन्दावन की खोज में प्रवृत्त हों ? यदि सब जीवों का उद्गम पुरुषोत्तम से ही है तब उसने कुछ जीवों को वृन्दावन में सुसृष्ट जगत बनाकर अन्य समस्त जीवों को क्यों जगत में भेज दिया ? अपने ही अंश का जगत में विकिरण कर उसे पुनः वृन्दावन में बुलाने में क्या लीला है ? किन्तु यदि वृन्दावन ही जगत का आदर्श रूप है जो जीवकृत संसार के पीछे विद्यमान है तो सृष्टि को अगणितानंद पुरुषोत्तम से उत्पन्न न मानने का कोई कारण नहीं है । यह स्वीकार अवश्य किया गया है कि जगत में भगवान क्रीड़ा कर रहे हैं, यही उनका बहुधा होना है,[2] किन्तु कृष्ण का जगतरूपी क्रीड़ास्थल और वृन्दावन क्रीड़ास्थल तत्वतः एक है या नहीं, यह स्पष्ट नहीं किया गया । श्रीकृष्ण पूर्णरूपेण आत्मप्रसार वृन्दावन की सृष्टि में ही करते हैं । वृन्दावन परात्पर लोक है जो कदाचित्

१-क ज्यों नभ फटिक मध्य न्यारो बसि पंच प्रपंच विभूति।
ऐसे मैं व्यापक तैं न्यारो, मानिनि ग्रथित ज्यों सूत ।। सूरसागर, पद सं. ३८१

ख- शब्दातीत स्वरूप मन बानि बुद्धि अनूप।
सर्व विलासनि तें परें सर्व विलास स्वरूप।।५०।। सुधर्म-बोधिनी, पृ. ३१

ग- आप अलिप्त लिप्त लीला रचि अनन्त कोटि ब्रह्मांड विलास।
शुद्ध तत्व सबके परमेश्वर युगलकिशोर सदा सुखरास ।।
परात्परादि सबन सब स्वामी [illegible] नामी नाम निवास।
नित्यसिद्ध सर्वोपरि हरिप्रिया सब सुखदायक सदा सुभाय।।२०।। सिद्धान्त सुख महावा

२- नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे ।
रूपनामविभेदेन जगत्क्रीडति यो यतः।।तत्वदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण श्लोक १

`ब्रह्म` में परिव्याप्त नहीं है, वह केवल परब्रह्म श्रीकृष्ण के अवतार के समय पृथ्वी पर आविर्भूत होती है अन्यथा जगत से असंपृक्त है । प्रश्न उठ सकता है कि क्या पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की लीला वृन्दावन तक ही सीमित है, क्या संपूर्ण `जगत` उसका क्रीड़ा-क्षेत्र नहीं है ? यदि नहीं, तो फिर इस जगत को रचने का उद्देश्य क्या था ? क्या पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने आत्मक्रीडा के लिये सम्पूर्ण सृष्टि को जन्म नहीं दिया ? दिया है, सृष्टि में क्रीड़ाभावना को और कृष्ण भक्तिसंप्रदायों ने इंगित किया है; तो फिर उस आत्मक्रीड़ा का क्षेत्र केवल वृन्दावन ही क्यों है, समस्त जगत क्यों नहीं ?

कृष्ण काव्य में परब्रह्म की आविर्भूत-परिणति वृन्दावन में ही देखने को मिलती है । जगत को आविर्भूत मानकर भी किसी ने यह नहीं कहा कि समस्त जगत वृन्दावन है, और पुरुषोत्तम का दिव्य क्रीड़ाक्षेत्र बन सकता है । कृष्ण-भक्तों में इहलोक की लीला का संवरण कर वृन्दावन के नित्य लोक में प्रवेश पाने की उत्कट अभिलाषा दृष्टव्य है । अतएव यह स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में यह जगत सत्य अवश्य है किन्तु नश्वर है, नित्यलीला का धाम नहीं, इसीलिये वे इसे छोड़कर वृन्दावन में प्रविष्ट होकर श्रीकृष्ण की लीला का आस्वादन करने को उत्सुक रहते हैं । किन्तु जो सत्य है वह अवश्यंभावी रूप से नित्य है, क्षणनश्वर नहीं होता । कृष्ण-भक्त के लिये इसके ईश का आभास होते हुये भी परोक्ष रूप से ही रहता है, प्रत्यक्ष आभास वृन्दावन का अप्राकृत लोक है जो सच्चिदानंदरूपी दिव्य आत्मपरिणति है, चिदानंद की चिदात्मक केलिस्थली है । कृष्ण भक्तों की दृष्टि में वृन्दावन ही शाश्वतलोक है । श्रीवृन्दावन श्रीकृष्ण का धाम है, श्रीकृष्ण रचित आविर्भूत सृष्टि है जहाँ पुरुषोत्तम के अपरिसीम आनंद का अखण्ड साम्राज्य है, निर्बाध क्रीड़ा है, अद्भुत लीला-विलास है ।

शाश्वतलोक : वृन्दावन

सृष्टि की पूर्णतम सिद्धि उस दिव्यलोक में मानी गई है जिसे `वृन्दावन` अथवा `गोलोक` कहा गया है । यह लोक सच्चिदानंद श्रीकृष्ण की रचना है अतएव उन्हीं की

१- जगत के मिथ्या नहीं नश्वरमात्र अस्य ।। चै०च०मध्यलीला:६ठाँ परिच्छेद: पृ०१२७

श्रीकृष्ण हैं । अत: वृन्दावन की भूमि चिन्तामणिमय है, चिन्तामणि वहाँ की दासियों का चरणाभूषण है । वन कल्पवृक्ष लता से परिव्याप्त है, गौएँ कामधेनु हैं, जल अमृत है, लोककथा दिव्यगीत है, सखाओं का सहज गमन नृत्य है, वहाँ चिदानंद ज्योति का रस मूर्तिमान है[1] । वृन्दावन के इस अलौकिक वैभव से संबंधित स्वामी हरिदास जी के जीवन में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है । हरिदास जी का संगीत सुनने के पश्चात बादशाह अकबर इतना विभोर हो उठा कि उसने दिव्य गायक की कोई सेवा करने के लिये आग्रह किया । पहिले तो हरिदास जी ने स्पष्ट ही मना कर दिया किन्तु जब अकबर हठ करने लगा तब उन्होंने वृन्दावन के किसी एक घाट की सीढ़ी का एक टूटा कोना बनवा देने को कहा । इस तुच्छ-सी बात के लिये सम्राट अकबर का सेवाभिमान बड़ा आहत हुआ । फिर भी जब वह उसे देखने गया तब वृन्दावन का वह घाट मणिमय दिखाई पड़ा । लज्जित होकर उसने यह स्वीकार किया कि उसके जैसे सैकड़ों बादशाहों उस सीढ़ी के एक कोने में लगे एक रत्न की भी समानता नहीं कर सकते[2] ।

१- "वृन्दावनी सामाजिक वै सम्पद्सिन्धु ।
कृपा के वैकुण्ठ-सम्पद् तार एक बिन्दु ।।
परमपुरुषोत्तम स्वयं भगवान ।
कृष्ण यहाँ धनी हैं वृन्दावनधाम ।।
चिन्तामणिमयभूमि रत्नेर भवन ।
चिन्तामणिगण दासी--चरण--भूषण ।।
कल्पवृक्षलता यहाँ सामाजिक वन ।
पुष्पफल बिना केउ ना मागे अन्यधन ।।
अनन्त कामधेनु यहाँ चरे वने वने ।
दुग्धमात्र देन केउ ना मागे अन्यधन ।।
सहजलोकेर कथा यहाँ दिव्यगीत
सहजगमन करे नृत्य प्रतीत ।
सर्वत्र जल यहाँ अमृत-समान ।
चिदानंद ज्योति: स्वाद्य यहाँ मूर्तिमान।। चैतन्य चरितामृत मध्यलीला
२४ वां परिच्छेद: पृ० १८५

२- श्रीस्वामी जी महाराज का जीवनचरित्र :[illegible] की भूमिका: पृ० ८-१०

विकीर्ण करके उनमें अपना अनुभव करना चाहता । आत्मकेलि में ही आनंद का आस्वादन न करके आत्माविस्तार में भी अपना रस लेना चाहता । यही सृष्टि का हेतु है, यही पुरुषोत्तम की शक्ति की क्रीड़ा, उसकी वैचित्र्य-सम्पन्नता है।

इसीलिये श्री वल्लभाचार्य जी ने लीला की अनुवर्तिनी एक पांचवीं प्रकार की मुक्ति की अभिभावना की है जिसे उन्होंने "सायुज्य--अनुसरणा" कहा है और शेष चारों प्रकार की मुक्तियों से श्रेष्ठ ठहराया है, क्योंकि अन्य मुक्तियाँ केवल संयोगात्मक होती हैं किन्तु यह संयोगात्मक वियोगात्मक दोनों है । इसे "स्वरूपानन्द" या "लीलाप्रवेश" कहते हैं । मुक्तियाँ लयात्मक होती हैं, इसलिये उनमें लीला का परिपाक नहीं होता, रस का वैचित्र्य आत्मानंद में छूट जाता है । ब्रह्मानंद में केवल आत्मा प्रवेश पाती है, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ आदि नहीं [1]। किन्तु भजनानन्द में इन सब को प्रवेशाधिकार मिलता है, भगवान की चमत्काररूपी पूर्णता में ये चिदानंद-सूर्य की किरणें हैं । पुरुषोत्तम के सान्द्र आनन्द-पारावार में ये ऊर्मियों का कल्लोल बनते हैं, चिच्छक्ति का वैचित्र्य विलास इनमें भी उमड़ता है । इसलिये भक्त दिव्य देह पाकर कृष्ण में रमण करना चाहता है, लीला-रस का उपभोग करना चाहता है । तदर्थ निर्गुण ब्रह्म से उसे कोई प्रयोजन नहीं है, वह तो ब्रह्म में लिप्त होना चाहता है, उसमें लिप्त करना चाहता है अतः उसे [illegible] करना चाहता है । गुणात्मक जीव निर्गुण के गुणों के प्रति आकृष्ट होता है [2]। यह आकर्षण लीला या आनंद के लिये अनिवार्य है । आनंद का विलास भेदाभेद के सापेक्ष रूप में वैचित्र्य धारण करता है, इसलिये कृष्णलीला में जीव और भगवान की सायुज्यावस्था होते हुये भी उनका तारतम्य-संबंध बना रहता है, अभेद नहीं। अभेद होने से विलास की तीव्रता निरपेक्ष-अन्तर्लीनता में परिणत होने लगती है, इसीलिये पुरुषोत्तम में अवस्थित रहकर भी उनसे भेद बना रहे--भेदाभेद रहे--यही कृष्ण भक्ति संप्रदायों की साधना का लक्ष्य है । लीलाप्रवेश भगवान श्रीकृष्ण की कृपा से संभव है, जीव के निजी पुरुषार्थ से नहीं। लीला में प्रवेश करने के लिये अविद्या का नाश आवश्यक है, इसलिये जीव कृष्ण के अनुग्रह से [illegible] (बिना ज्ञान कर्म आदि के) पाकर लीला में प्रवेश करता है । श्रीकृष्ण की अपने परिकरों के साथ यह लीला सर्व भावों के आश्रय से चलती है जिसका विवेचन रस के अध्यायों में किया गया है ।

१- ब्रह्मानंदे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा। संघातस्याविलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषतः ॥४३॥
सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि।
ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते ॥४४॥ तत्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण ।

२- आखिर रसभाव प्रभु को आकर्षण। भक्तवश के चाहते जब सुनहिं स्मरण
बिना देह करत कृष्णहिं भजन । गुणाकृष्ट देखा करी निर्गुण भजन ॥

चै०च०मध्यलीला:२४वां परि०:पृ०२०५

भक्ति

भक्ति का दार्शनिक आधार

जड़ जीवन एवं मन से परिवेष्टित सृष्टि का उत्स एक महत् अपरिसीम आनंद है, जो इसका अप्रतिहत संचालन कर रहा है और जगत की सारी गतियों के बीच भी जीव को उस उत्स की ओर प्रेरित कर रहा है जहां से उसका उद्गम है। प्रत्येक व्यक्ति अखण्ड सुख की कांक्षा करता है। यह कांक्षा ईश्वर प्रेरित है क्योंकि श्रीमद्वल्लभाचार्य के अनुसार प्रत्येक जीव में, :सृष्टि के प्रत्येक तत्व में: आनंदांश - प्रधान अन्तर्यामी अनुप्रविष्ट होकर उसका संचालन कर रहा है। आनंद की यह पिपासा जीवमात्र में स्वभावत: है क्योंकि अंश में अंशी का गुण विद्यमान है। अवश्य ही वह अपने मूलस्वरूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाती क्योंकि जीव में अहंकार का आवरण आ जाता है। फिर भी आनंद की खोज तो है ही। सारी सृष्टि उस व्यापक परमानंद के आकर्षण में बंधी है। ब्रह्म जो स्वयं पूर्ण-स्वतंत्र एवं मुक्त है, अपनी समस्त गतियों का स्वामी है अत: किसी बाध्यता से अनुप्राणित नहीं है, वह जो अपनी अखण्ड एकता को नाना रूपता देता है वह क्यों ? इसका केवल एक ही उत्तर है—आनंद के लिए। पूर्णप्रकाम के आत्म-रमण की प्रेरणा केवलमात्र आनंद ही है। लीला ही लीला का प्रयोजन है।

सृष्टि के जिस सूत्रधार को वेदान्तियों ने केवल सत् के रूप में देखा, जिसकी अनुभूति उपनिषत्कारों ने निराकार सच्चिदानंद के रूप में की, वही कृष्णभक्तिधारा में परमानंद श्रीकृष्ण के विग्रह में घनीभूत होकर प्रकट हुआ। कृष्णभक्तों का अनादि सत्य निराकार असीम नहीं जिसकी यावत् सृष्टि में कोई वास्तविक रूचि नहीं है, और नहीं श्रीकृष्ण की आत्मशक्ति असत् है जो संसार के मिथ्या भ्रम को जन्म दे। वह सत्ता एक सक्रिय सत्ता है जिसकी शक्ति का मूलस्वभाव ही चैतनानंद है, ह्लादक है। जो असीम है उसमें आनंद अनिवार्य है क्योंकि सारा निरानंद सीमाजन्य होता है। सीमा का आ जाना असंतोष का कारण बनता है। बाधा किंवा सीमा के अतिक्रमण पर ही आत्मतुष्टि मिल पाती है। तत्वत: पूर्ण होने के कारण जीव अपनी आत्मपूर्णता का खोजी है, वह अपनी उस पूर्णता का अधिकारी भी है क्योंकि अणु की सत्ता विभु से स्वतंत्र है ही नहीं। जिस मात्रा में खण्ड पूर्ण को, ससीम असीम को छू लेता है उस मात्रा में वह आत्मतुष्टि लाभ करता है, आनंद की ओर प्रगति करता है। आत्मोपलब्धि

का दूसरा नाम आनंद है ।

यह आनंद है क्या ? इसका स्वरूप क्या है जिसको पाकर व्यक्ति पूर्ण तृप्त हो जाता है । यह निश्चित है कि इस आनंद को हम भावनीय सुख से एकाकार नहीं कर सकते, क्योंकि यदि ऐसा होता तो व्यक्ति को सुख के क्रम में दुःख न मिलता । सुख के क्रम में दुःख अवश्यंभावी है, सुख-दुःख के द्वन्द्वात्मक अनुभव निरन्तर साथ लगे रहते हैं, किन्तु आनंद एक ऐसा अनुभव है जो आत्मपरिपूर्ण है, एकरस है । सत्ता का आनंद आत्म-स्थित (Self- existent) एवं वस्तु निरपेक्ष है । सृष्टिव्यापी आनंद मानव के संवेगात्मक, स्नायविक हर्ष सुख से भिन्न एक व मूलभूत गुह्यतर तत्व है जिसका केन्द्र आत्मा है, मनुष्य की बाह्यचेतना नहीं । बाह्य चेतना में प्रतिबिम्बित होकर यही निरपेक्ष आनंद सापेक्ष हो उठता है और सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, तटस्थता- इन तीन रूप अनुभूतियों का रूप धारण करता है । सुख, हर्ष, उल्लास आदि जिन्हें हम आनंद का पर्याय समझते हैं वे सब अवसरजन्य हैं एवं दुःख विषाद आदि की भांति ही सकारण एवं सापेक्ष है । सत् का आनंद चित् की निर्द्वन्द्व स्थिति में निवास करता है, वह न तो अवसरजन्य है, न किन्हीं कारणों पर निर्भर । वस्तुतः सुख-दुःख आदि उस आनंद की विपरीत प्रतिच्छायायें हैं । जब सत् का आनंद संसृति में अपनी उपलब्धि करना चाहता है, जब अपार आनंद धार में भी अपना प्रतिबिंब देखता है तब वह व्यक्ति में अहं की सीमा से बाधित होकर सुख-दुःख के रूप में अनुभूत होता है । यदि अहं की बाधा टूट जाय तो धार में भी अपार मूल रूप में प्रतिबिंबित हो जाय । यह सत्य है कि अंशी अंश में, असीम ससीम में अपना प्रतिबिंब देखना चाहता है, सच्चिदानंद श्रीकृष्ण जीव के देह मन प्राण की चेतना में भी अपने पूर्णानंद का आस्वादन करना चाहते हैं । तत्वतः जीवात्मा सच्चिदानंद से एक होने के कारण आनंदरूपी तो है किन्तु तत्वतः ही नहीं आकृतः भी वह उसे अपने समकक्ष बनाना चाहता है :

कमल नैन करुनामय, सुंदर नंद-कुवर हरि ।
रच्यौ चहत रस रास, उनहिं अपनी सम करि ।।[1]

श्रीकृष्ण का आनंद किंवा आत्मानंद व्यक्ति की बाह्य चेतना से आच्छादित रहता है, अहंता एवं ममताजन्य कामनाओं से आवृत हो जाता है । निर्विकार आनंद एषणाओं

१- नंददास - सिद्धान्तपंचाध्यायी, १३५ ।

के प्रसार के कारण तिरोहित होकर व्यक्ति के अविचेतन में निवास करता है और उसकी चेतन सत्ता में व्यक्त होने की प्रतीक्षा करता है । जब तक कामनाओं का साम्राज्य ध्वंस नहीं हो जाता तब तक आनंद प्रच्छन्न रहता है । सारी कामनाएं अहंकारजन्य हैं अत: अहंकार का आत्मा रूप बनना आनंद को पा लेना है। दूसरे शब्दों में जब जीव मायासंवलित अहं को छोड़ कर स्वरूपलक्षित राधा का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, तभी वह परमानंद श्रीकृष्ण को पाता है । जीव का मूलस्वरूप निष्काम किंवा आत्म-प्रकाम है अत: उसमें एषणाओं का स्थान नहीं है । सुख-दु:ख आदि अनुभव अज्ञान के उपज हैं । जब जीव में स्वरूप या ह्लादिनी शक्ति आत्मप्रकाशन करती है तब उसका मायाजन्य अंधकार नष्ट हो जाता है और वह अहंता ममता से परिचालित दुख-सुख को छोड़ कर अखण्ड आनंदस्वरूप श्रीकृष्ण की ओर धावित होता है । विशुद्ध आनंद का आकर्षण उस आनंद की प्राप्ति से विमुक्त कर देता है । स्वरूपलक्षित अथवा ह्लादिनी शक्ति ही उस आकर्षण को उत्पन्न करती है । वही विशुद्ध आनंद की अभीप्सा जागृत करती है । आनंद की यह अभीप्सा प्रेम कहलाती है[1]। यही प्रेम भक्ति में ग्राह्य है । ह्लादिनी का सार प्रेम है और प्रेम का सार भाव, भावपरक भक्ति की कृष्णभक्ति को विशिष्ट देन है । प्रेम आनंद की पुंजीभूत किरण है । यह आत्मा का नित्यगुण है । भट्ट रमानाथ जी शास्त्री के शब्दों में " उस आनंदरूप आत्मा का ही विशुद्ध धर्म या किरण जब मन के द्वारा अन्त: प्रकट होता है तब वह स्नेह किंवा प्रेम कहलाता है । वास्तव में यह स्नेह आनंद का ही धर्मान्तर होने से आत्मधर्म है[2]।

भक्ति का मनोविज्ञान :

आनंद की यह खोज आत्मचिंतन मानव में अधिक जागरूक हो उठती है । प्रेम उसी आनंद को पाने का प्रकृष्टतम साधन है किंतु देह मन प्राण के विकारों से मुक्त होने के कारण आत्मा का धर्म मानव की बाह्य सत्ता में प्रकट नहीं हो पाता । अहंता एवं ममता से परिचालित मानव-प्रेम देह प्राण की कामनाओं किंवा अधिक से अधिक मानसिक आदान-प्रदान में उलझ कर रह जाता है । जहां प्रेम अपने अबाधित रूप में प्रकट नहीं हो पाता वहां आनंद भी नहीं रह सकता । प्रेम आत्यन्तिक रूप से दु:ख की निवृत्ति

१- ह्लादिनी सार प्रेम प्रेमसार भाव ।
भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव ।। चैतन्यचरितामृत, आदि लीला, पृ०२१ ।

२- भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद, पृ० ३ ।

चाहता है, दूसरे शब्दों में आनंद की खोज करता है। प्रीतिसंदर्भ में कहा गया है कि पुरुषार्थ का प्रयोजन सुख प्राप्ति एवं दुःखनिवृत्ति है। भगवत्प्रेम में ही आत्यन्तिक सुख है। अन्य आश्रयों से प्राप्त सुख कदापि सत्य नहीं हो सकता क्योंकि वह नित्य नहीं है, जो सत्य है वही नित्य है। अतएव अन्य प्रेम अकृत्रिम न होने के कारण अनिवार्यतः दुःख में परिणत होता है, आनंद का निरोधक बनता है। केवलमात्र भगवान नित्य परमानंद स्वरूप हैं अतः भगवान् के प्रति उन्मुख प्रेम ही नित्य आनंदस्वरूप हो सकता है, उसी में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति संभव है। परमात्मा में लीन होकर, अज्ञान की वृत्तियों के स्तब्ध होने पर योगी जिस निश्चल नीरव आनंद का अनुभव करता है उससे भी बढ़ कर आनंद का अनुभव भक्त पुरुषोत्तम में निमग्न होकर करता है। भगवान् में देह मन प्राण का अज्ञान स्तब्ध नहीं रूपान्तरित होकर आनंद का उपकरण बन जाता है अतएव भक्त की भाव-समाधि सक्रिय होती है, उसमें लीला की अनुभूति होती है। भगवान के प्रेम में ब्रह्मानंद के प्रशान्त सागर के बीच लीला की लहरों का विलास उच्छलित होता है। अतएव भगवान्मूर्ति श्रीकृष्ण ही प्रेम के परम आधार हैं।

प्रश्न हो सकता है कि जीव में भी तो भगवान का अंश रहता है अतएव एक प्राणी का दूसरे प्राणी से स्नेह अवांछित क्यों है? यह सत्य है कि जीव जीव परस्पर प्रीति करते हैं किन्तु यह भी सत्य है कि कोई किसी की प्रीति का विषय नहीं बन पाता। शैशव से यौवन तक, और बाद में भी, प्रीति के आधार परिवर्तित होते रहते हैं। प्रीति सुखस्वरूपा है वह अखण्ड सुखात्मक वस्तु चाहती है। जीव स्वरूपतः आनंद वस्तु होने पर भी अणु आनंद मात्र है। वह अणु-आनंद भी व्यक्ति की बहिर्मुखता के दुर्भेद्य आवरणों में स्थित है। आवरणकारिणी माया के विकार के कारण कोई भी स्वरूपगत आनंद के निकट नहीं पहुंच पाता। अतएव विषयासक्त जीव को चाह कर भी कोई सुखी नहीं हो पाता। प्रीति चाहती है अनावृत आनंद। जीव के आवरण को भेद कर उसके स्वरूप को पकड़ पाने पर भी पूर्णतृप्ति नहीं मिल सकती क्योंकि जीव में आनंद का परिमाण अत्यन्त किंचित् है, अणुमात्र है। इसीलिए जीव क्रमशः प्रीति के विषयों का परित्याग करता हुआ निरन्तर नूतन प्रीत्यास्पद के अनुसन्धान में व्याकुल रहता है। शैशव में जननी, बाल्य में सखा, यौवन में प्रेयसी उसके पश्चात् और भी नूतनतर प्रिय के सन्धान में धावित होना दिखाई पड़ता है। अतएव जब हमी प्रीति के विषय का अनुसन्धान कर रहे हैं तब यह बोध होता है कि कोई भी किसी की प्रीति का विषय नहीं हो सकता। फिर भी आश्रय की खोज तो रहती ही है। प्रीति के एक विषय, एक आधार और हैं जिन्हें जीव ने अभी तक पाया नहीं है,— वे हैं श्रीकृष्ण भगवान। भगवान ही यथार्थ प्रीति

के विषय हैं। उनमें अनावृत अकृत्रिम सुख है, आनंद है। इसीलिए प्रीति का पर्यवसान भगवान में ही होता है[१]।

यह भगवत्प्रेम आत्मा का निष्क्रमण है, अंश का अंश के प्रति, खण्ड का पूर्ण के प्रति साग्रह अनुधावन। यद्यपि कुछ काल तक जीव अन्य समान जीव में अनुरक्त रह सकता है किन्तु अन्ततः अपने स्वरूप को प्रेरित होकर वह भगवान में ही शाश्वत प्रेम और आनंद का रसास्वादन करता है। कुछ काल तक जीव मित्र पत्नी आदि को परमात्म के अंश के कारण स्नेह कर सकता है और जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि वे स्वयं अपने कारण प्रिय नहीं हैं वरन् उनमें स्थित परम आत्म के कारण प्रिय हैं, किन्तु संपूर्ण की खोजी आत्मा खण्ड में प्रतिच्छायित पूर्णता को त्याग कर पूर्णता को उसके स्वरूपगत आधार में खोजेगी। आत्मा परमात्मा को उसी के स्वरूप में खोजती है न कि पत्नी, मित्र आदि के मानवीय आधार में। सत्यान्वेषी आत्मा सत्य को पाना चाहती है, सत्य के किसी टुकड़े को नहीं, सत्य की किसी सुदूर कल्पना से वह तृप्त नहीं हो सकती। किसी भी रूप में सही याज्ञवल्क्य ने यह स्वीकार किया है कि पत्नी, मित्र आदि प्रीत्यास्पद नहीं हैं, वरन् उनमें निहित 'परम-आत्म' है। इसी से मिलता जुलता एक मत यह है कि व्यक्ति की अपूर्णता के कारण हम उसके तात्कालिक स्वरूप से प्रेम नहीं करते वरन् उसके अन्दर निहित भविष्यत् दिव्यता की कल्पना के कारण उससे प्रेम करते हैं। जो भी हो प्रेम में दिव्यता की आग्रह परोक्ष रूप से विद्यमान रहता है। भक्त में यह आग्रह परोक्ष न होकर प्रत्यक्ष होता है, वह भगवान के अभिव्यक्त स्वरूप में ही आत्मतुष्टि लाभ करता है[२]।

१— "सर्वे हि प्राणिनः प्रीतितात्पर्यका एव। तदसीमात्म्यव्यभिचारादपि दर्शनात्। किंतु योग्यविषयमलब्ध्वा नैस्तत्र तत्र च पर्यवस्यति। अतः सर्वेषां योग्यतद्विषयान्वेषणमिदं इति श्रीभगवत्येव तस्याः पर्यवसानं स्यादिति।" :प्रीतिसंदर्भ, पृ० ५१-५२:

२— " In any case there seems to be here an avowal that it is not the human being (what he now is) but the Divine or a portion of the Divine within(call it God if you will or call it Absolute) that is the object of the love. But the mystic would not be satisfied like Mc Taggart with that ' will be'— would not consent to remain in love with the finite for the sake of an unrealized Infinite. He would insist on pushing towards full realisation, towards finding the divine in itself or the divin Manifest, he would not rest satisfied with the divine unconscious of itself, unmanifested or only distantly in posse' Sri Aurobindo ' LetterS' IInd series P.275

भक्ति उस परमप्रेमास्पद को निकटतम लाने का सर्वोत्तम साधन है। ज्ञान की ऊंचाइयों तक पहुंच कर भगवत्साक्षात्कार करना सर्वसाधारण की दुर्बल शक्ति के लिए सुकर नहीं है, कर्म में कर्तापन का अभाव या सन्यास उसे नीरस प्रतीत हो सकता है, किंतु प्रेम की अतल तरलता में डूब कर अहं के छू हो जाने पर भगवान को छू पाना अपेक्षाकृत आसान है। प्रेम का मार्ग आकर्षक भी है। कृष्णभक्ति संप्रदायों ने प्रेम को ही साधन माना है और इसे ही साध्य भी। प्रेम सारी चेतना का शिरोमणि है सत्ता की आत्मपरि-पूर्णता का फल है। इसके द्वारा आत्मा आत्मोपलब्धि की गहनता, आह्लाद एवं सुपूर्णता को प्राप्त कर लेती है। प्रेम विभाजन विच्छेद से ऐक्य के आनंद में पहुंचाता है। अतः भगवान की ओर प्रेम शक्ति अभिमुख होना सर्वोच्च आध्यात्मिक पूर्ति के लिये अपने को तैयार करना है। मनुष्य में प्रेम संवेग के रूप में अधिक व्यक्त होता है। उसे जीवन में निष्पन्न करने वाला, अभिव्यक्ति प्रमुखतः संवेग का ही होता है। संवेग से ही जीवन को गति मिलती है। किंतु दुःख का कारण भी यही होता है। यदि संवेग की धारा को भगवान की ओर मोड़ दिया जाय तो व्यक्ति की चेतना में दिव्य परिवर्तन हो जाय। कृष्ण-भक्ति इन्हीं संवेगों को भगवान श्रीकृष्ण में नियोजित करती है, अतएव इसकी साधना में आवेग है, गति है। कृष्णभक्ति में सारे मानवीय मनोरागों के साथ पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से संबंध स्थापित किया जाता है। भक्त का यह विश्वास है कि जिस प्रकार वह भगवान का आवाहन करता है उसी प्रकार भगवान उसे प्रत्युत्तर देता है। जिस प्रकार भक्त भगवान में आनंद लेता है उसी प्रकार भगवान भी भक्त में आनंद लेता है, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" जो भी रूप गुण भक्त भगवान को प्रदान करता है उन्हें स्वीकार करता हुआ वह उसके दीन प्रयास को सफल बनाता है और उसका निरन्तर प्रत्युत्तर देता हुआ अन्त में भक्त को अपना स्वरूप दे डालता है, अपने प्रेम से एकाकार कर लेता है। परमैक्य की, भगवान से तदाकारता की अनुभूति भक्ति से ही संभव है। प्रेम ऐसा संवेग है जो नितान्त निःस्वार्थ एवं आत्मपरिपूर्ण है, अपने अतिरिक्त इसमें और किसी प्रयोजन की आवश्यकता नहीं है। प्रेमभक्ति के माध्यम से व्यक्ति दिव्य चेतना के आत्मानंद में सीधे प्रवेश कर जाता है। यह दिव्य प्रेम ही मूलभूत आनंद की उपलब्धि है, उसका साकार विग्रह है।

प्रेमाभक्ति का स्वरूप

किंतु जिस प्रकार विशुद्ध आनन्द की अनुभूति मानव की अभिव्यंजना से संभव नहीं है उसी प्रकार भगवदोन्मुख प्रेम किंवा भक्ति मानव-कल्पना की पहुंच से परे है। यद्यपि कृष्णप्रेम मानवीय रूप धारण करके जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित हुआ, किन्तु उसकी भावगरिमा चेतना के अत्यन्त उच्च धरातल की वस्तु है। सत्व रज तम की वृत्तियों तथा उनकी आसक्तियों से परे कृष्णरति चिदासक्ति है, चिच्छक्ति का विलास है[1]। भक्ति गुणों से अतीत तो है ही ज्ञान से भी अतीत है। पराभक्ति धार्मिक भावना भी नहीं है। यह विधि निषेध से परे आत्मनिष्ठ आनंद का प्रकाशन है। इसके उत्कर्ष में स्थित भक्ति का आसन अत्यन्त ऊंचा है। रास के पूर्व श्रीकृष्ण गोपियों को भी धर्म आदि का उपदेश देते हैं, वह केवल व्रजदेवियों के शुद्ध प्रेम रस को प्रगट करने के लिए। प्रत्युत्तर में गोपियां कहती हैं कि धर्म की उपयोगिता वहीं तक है जहां मन का कलुष धुल जाय। मन के निर्मल होने पर बुद्धि निखर उठती है, उसके अविद्या के नाश पर विज्ञान प्रकाशित होता है, इस विज्ञान चेतना के प्रकट होने पर सत्य, ज्ञान, आनंद रूपिणी आत्मा प्रभासित होती है, तब कहीं कृष्ण की पराभक्ति व्यक्त होती है[2]। विज्ञान चेतना में अभिव्यक्त सच्चिदानंद का यह रस कृष्णभक्ति में मानवीय प्रेम के व्यापारों के रूप में प्रकट हुआ है। यहां तक कि उसमें ऐन्द्रियता का भी समावेश है। प्रायः इस बात पर कटु आरोप किया जाता है कि कृष्णभक्ति में ऐन्द्रियता (Sensuousness) ही नहीं, ऐन्द्रिकता (Sensuality) है ।है, और उसका होना कृष्णभक्ति को

१- 'गुणासक्ति सों काम सुख चिदासक्ति सों नेह ।
चिदासक्ति तत्सुखसुखी गुणासक्ति सो देह ।।४५। सुधर्मबोधिनी', पृ०३०।

२- 'धरम कह्यौ शुद्ध ताको, जो धरमहि रत होई ।
जा धरमहि आचरत सकलमल निरमल होई ।।
मन निर्मल भये सुबुधि, तहां विग्यान प्रकासै ।
सत्य ज्ञान आनंद, आतमा तब आभासै ।। ११०
तब तुमरी निज प्रेम-भगति-रति अति ह्वै जावै ।
तो कहुं तुम्हरे चरन कमल कों निकटहिं पावै ।। ११०, ११५ ।
नंददास - सिद्धान्त पंचाध्यायी, पृ. १८८

चिरन्तनता है। कृष्णप्रेम वह अतीन्द्रिय रहस्यवादक प्रेम नहीं है जिसमें आत्मा अपने अस्तित्व के साधक अंशों को छोड़ कर परमात्मा से मिलने को आतुर रहती है, वह निर्गुण नहीं सगुण प्रेम है। इसलिए अस्तित्व के अन्य अंशों को जहाँ का तहाँ न छोड़ कर उन्हें भी कृष्णप्रेम में नियोजित किया जाता है। पुरुषोत्तम की चेतना मात्र ब्रह्मचेतना ही नहीं है जो सृष्टि से कोई सरोकार नहीं रखती और जीव की देहगत चेतना को एक स्वप्न या भ्रम समझती है। श्रीकृष्ण जब इस देहगत चेतना में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हुए तब उसका कोई उद्देश्य भी था। परात्पर सच्चिदानंद अपरार्द्ध देह मन प्राण में अभिव्यक्त होना चाहता है अन्यथा श्रीकृष्ण अन्तर्यामी रूप से इनमें प्रविष्ट न होते क्योंकि आत्मा तो परमात्मा से नित्य युक्त है ही। जहाँ आत्मा विच्छिन्न है जैसा जहाँ परमात्मा प्रच्छन्न है वहां भी अपनी अभिव्यक्ति सच्चिदानंद का काम्य है। श्रीकृष्ण की सृष्टि लीला में है, इस लीला में आत्मा परमात्मा में लीन हो कर निष्क्रिय नहीं हो जाती, वह अपने समस्त अवयवों सहित वैचित्र्य का विस्तार करती है। लीला में जीव के प्रत्येक अंश की क्रीड़ा है, इसलिए कृष्णप्रेम में इन्द्रियों का बहिष्कार नहीं, समुन्नयन है, सच्चिदानंद के संस्पर्श से जड़ता ग्रस्त इन्द्रियों की भी चिन्मयता साधित होती है। कृष्ण के प्रति प्रेम मे ऐन्द्रियता काम नहीं, प्रेम है। आत्मेन्द्रिय की लिप्सा काम है, किन्तु सच्चिदानंद की तृप्ति प्रेम है। कृष्णभक्त की इन्द्रियां स्वसुख या विषयसुख के हेतु नहीं हैं वे परमानन्दरूपी श्रीकृष्ण, केवल श्रीकृष्ण के आस्वादन हेतु हैं। चैतन्य चरितामृत में कहा गया है :

> "आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे बलि काम।
> कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम।
> ....
> कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
> कृष्णसुख तात्पर्य मात्र प्रेम महाबल।[1]

श्रीकृष्ण केवल निराकार सच्चिदानंद नहीं हैं, वे सच्चिदानंद-विग्रह हैं। अतएव यदि भगवद्‌ विग्रह की इंद्रियां चिन्मय है तो उन्हीं के प्रतिबिंब उनके भक्तों की इंद्रियां भी आत्मोज्ज्वल हैं अन्यथा कृष्ण उनमें रमण नहीं कर सकते। वह केवल आत्माराम हैं अपने में, अपने से सादृश्य-प्राप्त वस्तुओं में ही रमण करते हैं। भक्त सच्चिदानंद के ही दिव्य अंश हैं।[2]

१- चैतन्य चरितामृत, आदिलीला, पृ० २६
२- "जोई कृष्ण भक्त रूप चिद्रूप उदारा।
सोई उज्ज्वल रस आकृत तिन करि परिवारा।।१८५।। नंददास-सिद्धान्तपंचाध्यायी पृ. १६१

चिद्रूप इन्द्रियों की चेतना की समानता विषयग्रस्त इंद्रियों की निम्न चेतना से करना हास्यास्पद है । प्राकृत मानव चेतना से दिव्य मानव चेतना का तादात्म्य खोजना अहंबुद्धि-वादिता है । ह्लादिनी की अति-प्रबुद्ध चेतना ज्ञाननिष्ठ संवित् से भी ऊँची है । ह्लादिनी में संवित निहित है । कृष्णप्रेम भगवत् साधना की सिद्धि है, प्रेमभक्ति ज्ञान से भी ऊपर है । ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य से व्यक्तित्व का संस्कार हो कर, उससे ऊपर उठ कर ही परमानंद की निविड़ अनुभूति, जिसे मधुर प्रेम कहते हैं, टिक पाती है[1]। वैसे ऐन्द्रियता के विकारों से ग्रस्त होते हुए भी भक्ति का गली गली ढिंढोरा पीटने वालों की कमी नहीं है । इस दुःसाध्य प्रेम में शायद ही किसी का ध्यानस्थान ठीक लग पाता है । यह परमभक्ति अत्यन्त तलवर्ती अन्तश्चेतना है व्यक्तित्व के बाह्यांगों सहित उसमें डूबना विरल है । कृष्णप्रेम का सागर अत्यन्त गहन है, निराकार का रूप सदैव दुर्वगाह है[2]। लौह जिस प्रकार दग्ध करने में समर्थ नहीं होता उस प्रकार प्राकृत इंद्रियां भी भगवत्साक्षात्कार में समर्थ नहीं होतीं, अग्नितादात्म्य प्राप्त लौह जैसे दहन में समर्थ होता है वैसे भगवान की स्वरूपशक्ति से तादात्म्य-प्राप्त इंद्रियां ही उन्हें अनुभव कर सकती हैं । राधा की कायव्यूह बन कर ही गोपियां कृष्ण साक्षात्कार के योग्य हो पाती हैं । शृंगारपरक प्रेम राधाकृष्ण प्रेम का सैद्धान्तिक विवेचन राधावल्लभ संप्रदाय में अत्यंत सूक्ष्मता के साथ किया गया है । कृष्णप्रेम अन्तरतम की अत्यन्त गंभीर चेतना है जिसमें उच्छलता को अधिक महत्व नहीं दिया गया । केलि भक्ति की प्रारंभिक दशा समझी जाती है जिसे 'नेम' कहते हैं । वस्तुतः प्रेम एवं कौतुहलपरक प्रेम किंवा 'नेम' में अन्तर है । भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति को सान्द्रानन्दविशेषात्मा कह कर उसे ब्रह्मानंद से भी प्रगाढ़तर

१- "ज्ञानभक्ति वैराग्य बिन छूटे न माया फन्द ।
छूटे बिन भेंटे नहीं पूरन परमानन्द ।।१।।
ज्ञान भक्ति वैराग्य सों पात्र बनाउ पकाउ ।
तब निश्चल माधुर्य रस रंग तहां ठहराउ ।।२।। सुधर्मबोधिनी, पृ० २६ ।

२- "प्रेम समुद्र रूप रस गहरे कैसे लागे थाह ।
बेकारी दे जान कहावत जान पन्यो की कहा परी बाट।
काहू को शर सूधो न परै मारत गाल गली गली हाट,
कहि हरिदास जाने ठाकुर बिहारी तकत ओट पाट ।।१८।।
सिद्धान्त के पद (स्वामी हरिदास) पद सं १८

कहा गया है[१]। जब यह सान्द्र प्रेम उत्पन्न होता है तब वहाँ नेम नहीं ठहरता[२]। जिसका आदि और अंत होता है वह सब नेम है। लोक के विलासादि सब प्रेम नेम हैं[३]।

जो सदैव एकरस रहता है वह प्रेम है। इस प्रेम की ऐसी गति है कि देह के जितने सुख हैं वे भूल जाते हैं। यह प्रेम अत्यन्त अद्भुत है, इसके एक निमेष पर और सुखों के कोटि कल्प न्यौछावर किये जा सकते हैं[४]। जब तक अपने सुख की चाह है तब तक कृष्ण प्रेम असंभव है। ध्रुवदास की दृढ़ोक्ति है कि कामादि सुख जब स्वार्थ परायण हैं तब और सैलों की कथा कहती। 'चिंतित रहित नित्य-प्रेम सहज एकरस जो किशोरी किशोर जू है में और कहूं नाहीं[५]।' यह प्रेम राधाकृष्ण में ही संभव है। जब तन मन की वृत्तियाँ प्रेम में थक जाती हैं तब उन्हें आसक्त कहा जाता है। इस गहन गंभीर प्रेम में मान तक की गुंजाइश नहीं है। लौकिक दृष्टि से मान प्रेम का पोषक समझा जाता है किन्तु इस अकाम एकरस अनंदतन्मय कृष्णारति में नहीं। राधावल्लभ मत के अनुसार 'हित' किंवा दिव्य प्रेम आत्मा-परमात्मा के मिलन की वह पूर्णावस्था है जहाँ नेम तथा विरह एवं मान तक का प्रवेश असामंजस्यपूर्ण है। यह 'हित' स्थूलप्रेम नहीं है जिसमें अहं तथा स्वसुख के कारण मान एवं विरह की गुंजाइश रहती है, यह आत्मा का मूल स्वभाव होने के कारण नित्य आनंद का अक्षय स्रोत है। यह प्रेम उज्ज्वल, कोमल, स्निग्ध, सरस तथा सदा एकरस है, स्वच्छ स्वच्छन्द, मधुर एवं मादक है। किन्तु इस एकरस प्रेम में स्थूल विरह मान के अभाव में भी 'चाह', 'चटपटी' है, क्षण क्षण नूतनता का आस्वादन है[६]। यह इसलिए

१- "ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ।।२०।। पूर्वविभाग-प्रथम लहरी, भक्तिरसामृत-सिंधु।

२- "देखो यह रस अति सरस, जित आवत सब नेम हीं।
हित ध्रुव रस की रासि दोउ, दिन विलसत रहें प्रेम हीं।।
:भजनकुंडलियालीला, पृ०८५: ब्यालीसलीला-ध्रुवदास:

३- सिद्धान्तविचार लीला, पृ०४४ :ब्यालीसलीला-ध्रुवदास:

४- // पृ०४५-४६ // //

५- // पृ०४६-४७ // //

६- "प्रेम को निजरूप चाह, चटपटी, अधीनता एकउज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरसता, नूतनता तथा एकरस रहनि बरनें बहुत रीति। सब सुखद मधुरता मादिकता, जाको आदि अंत नाहिं छिन छिन नूतनता आस्वाद,---" सिद्धान्तविचारलीला-पृ०४३-४४:ब्यालीसलीला-ध्रुवदास।

कि यह प्रेम ही विरहरूप है।[1] इस एकरस प्रेम का स्वभाव विरहरूप है अर्थात् चिरमिलन में भी उत्कटता, चिरनूतनता, विभ्रम-वैचित्र्य तथा दिव्योन्माद बना रहता है। यह प्रेम तीव्रतम है किन्तु काम भी। जिस पर राधा की कृपा होती है वही इसे समझ सकता है। सारे प्रेम नेम इस महाप्रेम के साधन हैं। इस पार न और कोई रस है न कोई सुख, और न कोई प्रेम; यह सब रसों का सार है, [illegible] है, एकरस, अभंग है।[2] देहगत प्राकृत प्रेम से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस महाप्रेम के प्रकट होने पर मनुष्य की प्राकृतता विलुप्त होने लगती है। शरीर में जब यह प्रकट हो जाता है तब केलि कौतुक अदृश्य हो जाते हैं।[3] मन की प्रवृत्तियां तभी तक विषयोन्मुख रहती हैं जब तक कि महाप्रेम उन्हें आयत्त नहीं कर लेता। विषय के लालच को प्रेम नहीं कहा जा सकता। इस प्रेम की तुलना में सारे प्रेम विषयजन्य ठहरते हैं। सुविख्यात चातक, पतंग, मीन, चकोर आदि का प्रेम भी प्रेम नहीं, विषय-विकार है। एकमात्र कृष्णाभिमुखी प्रेम ही कंचन प्रेम है, अन्य सारे प्रेम प्रेम की अनुकृतियां हैं।[4] विषयसुख का आदि, अन्त होता है। जिसका आदि अंत हो वह

1- 'या प्रेम में न स्थूल प्रेम की समाई। न स्थूल विरह की समाई। न मान की। एकरस यह प्रेम ही विरह रूप है।'

सिद्धान्तविचारलीला, पृ०--- ५१ :ब्यालीसलीला -ध्रुवदास :

2- 'एक रंग रुचि एक रस, अद्भुत नित्य विहार।'

वृहद्वामनपुराण की भाषालीला, पृ०४० :ब्यालीसलीला- ध्रुवदास:

3- '[illegible] तन बन गरजत रहैं, अद्भुत केहरि प्रेम।
तामें पावै रहन क्यों, गज [illegible] मृग नेम॥

प्रीतिचौवनीलीला पृ०५८ :ब्यालीसलीला- ध्रुवदास: ।

4- 'अलि पतंग मृग मीन गज चातक चकई चकोर।
ये सब झूठे नेह में बंधे विषय की डोर॥

. . . .

जब लगि लालच विषय को तौ न होय शुभ प्रेम।
तातें [illegible] [illegible] ध्रुव पीतल सौं [illegible] [illegible]॥

प्रीतिचौवन लीला, पृ०५८ :ब्यालीसलीला, ध्रुवदास : ।

वह प्रेम नहीं कहा जा सकता । सुख दुःख, विरह मिलन की द्वैतता से प्रेम की उज्ज्वलता बाधित होती है।[1] वस्तुतः प्रेम शाश्वत वस्तु है, शाश्वत आत्मा का शाश्वत धर्म, वह संवेग किंवा प्राण एवं देहजन्य वृत्ति नहीं है। भगवत्प्रेम एकरस है, न यह घटता है न बढ़ता । इसका आदि अन्त नहीं है :

प्रेम रूप वय घटत नहिं, मिटत न कबहुं संयोग ।
आदि अंत जाहिन जहां, सत्य प्रेम का भोग ।।[2]

इसके आस्वादन का मूलमंत्र रूपोपासना है । जिसके हृदय में राधाकृष्ण के रूप का दीपक ज्योतित हो उठता है उसके सुख दुख का सारा अंधकार विलीन हो जाता है, केवलमात्र आनंद का प्रकाश छा जाता है।[3] लोकवेद से अतीत यह प्रेमपंथ अत्यन्त विकट है । कामना के अश्व पर चढ़ कर इस तक नहीं पहुंचा जा सकता । अन्तर्दृष्टि से अलौकिक रूप का अवगाहन करके ही इसका आस्वादन किया जा सकता है । किन्तु यह आस्वादन भी अत्यंत कठिन है, सर्वसुलभ नहीं ।[4] इसीलिए प्रेमभक्ति की प्राप्ति का एक मात्र साधन कृपा कहा गया है ।

भक्ति के भेद :

अखण्ड आनंदरूपिणी पराभक्ति किंवा युगल-प्रेम भक्ति की चरमपरिणति है । वहां तक पहुंचने के लिए भक्ति के अन्य प्रकारों का प्रयोजन स्वीकार किया जाता है । यद्यपि श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति एक ही है किन्तु भक्त की भावदशा एवं उसकी प्रकृति के अनुसार वह विविध रूप धारण करती है । वल्लभाचार्य जी के अनुसार माहात्म्यज्ञानपूर्वक भगवान

१- 'आदि अंत जाको नहीं सो सब प्रेम न रूप ।
चाहत जात न जानिये, बैठ कहां जल धूप ।।
जब बिछुरत तब होत दुख, मिलहि मिलो बिराज।
राशि में रस है भयो, प्रेम कहूं क्यों जाय ।। प्रीतिचौवनी लीला पृ०५६ : व्यालीसलीला-ध्रुवदास ।:
२- प्रीतिचौवनी लीला- पृ० ५६ : व्यालीसलीला-ध्रुवदास: ।
३- 'जाके हिय में जागहीं, रूप दीप उजियार ।
पहिं ताके जाय नहिं, दुख सुख सब अंधियार।। प्रीतिचौवनीलीला पृ०६०
४- 'संकट घाटी नेह की अतिहि सुछुटी आहि ।
नैन पलानि चलिबो तहां जो सूझ बने तौ चाहि।
चढ़िके मैन तुरंग पर चलिबो पावक माहिं।
प्रेम पंथ ऐसो कठिन, सब कोउ निबहत नाहिं।।
प्रीतिचौवनी लीला पृ० ६० ।

से सुदृढ़ स्नेह स्थापित करने को भक्ति कहते हैं। सामान्यजन के लिए माहात्म्यज्ञान को उद्बुद्ध करने से लेकर सुदृढ़ स्नेह तक भक्ति की कई सीढ़ियाँ हैं। भक्तिरसामृतसिंधु में भक्ति के विविध रूपों का सांगोपांग वर्णन मिलता है। व्यक्ति की चेतना के विकास-क्रम के अनुरूप वल्लभाचार्य जी ने भी भक्ति का मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। इनका क्रमशः निरूपण हो रहा है।

'भक्तिरसामृतसिंधु' में भक्ति के तीन प्रकार कहे गए हैं :

१- साधन भक्ति

२- भाव-भक्ति

३- प्रेम-भक्ति

<u>साधनभक्ति :</u>

साधनों द्वारा साधित भक्ति को साधन भक्ति कहते हैं, इसके द्वारा भक्त के हृदय में नित्यसिद्ध भाव प्रकट होता है[1]। इन्द्रियों की प्रेरणा अर्थात् श्रवण, कीर्तन आदि द्वारा साधनीय सामान्य भक्ति को ही साधनभक्ति कहते हैं, इसके द्वारा भाव या प्रेम साध्य होता है।

यह साधनभक्ति वैधी तथा रागानुगा भेद से दो प्रकार की होती है।

'वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा।'[2]

<u>वैधी</u>

वैधी भक्ति वह है जिसमें राग की अप्राप्ति हेतु अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ है, वरन् शास्त्र शासन भय से इसमें प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है[3]। शास्त्र के जितने विधि निषेध हैं वे सब वैधी भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। हरि के उद्देश्य से शास्त्र में जो क्रियायें प्रतिपादित हैं वे वैधीभक्ति के मार्ग में मान्य हैं, ये क्रियायें भगवान के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए, उनके

१- कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता ।।२।। पूर्वविभाग-द्वितीयलहरी, भक्तिरसामृतसिंधु

२- पूर्वविभाग, द्वितीय लहरी, श्लोक ४, भक्तिरसामृतसिंधु।

३- 'यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी उच्यते ।।५।।
पूर्वविभाग, द्वितीयलहरी, भक्तिरसामृत सिंधु।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में इस काम को "नेम" कह कर अभिहित किया गया है। ध्रुवदास जी ने "सिद्धान्तविचार लीला" में 'नेम' का स्पष्टीकरण किया है। उनके शब्दों में "तातें तदपि कामरूप नेम में राखि ---- जो कोऊ कहै कि काम ते नेम में कहि आये सो उनहूं की कामकेलि सी गाई है। सो यह काम प्राकृत न होय प्रेममई आश्रिनी निज प्रेममई आश्रिनी निज प्रेम के नेम रस सिंगार पोषक के लिए न्यारे कै कहे हैं। जो काम प्रिया जू के अंग संग ते उपजि होई प्रीतम को प्यारी लगै यह अप्राकृत प्रेम है, श्रीकृष्ण काम है कै नाहीं।"[1] यहां स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राधा (प्रकारान्तर से समस्त व्रजदेवियों का) का नेम अथवा काम अप्राकृत है। उनका अंग चिद्रूप है, अप्राकृत है। चिदानन्द-विग्रह का अंग संग प्राकृत काम की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वस्तुत: यहां नेम अथवा काम और कुछ नहीं परस्परलीन प्रेम की सक्रियता है, तादात्म्य की ऊर्मि है। प्रेम और नेम एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं, ताना बाना की भांति अनुस्यूत।[2] यहां नेम अथवा काम प्रेम का साधक है, बाधक नहीं। आनन्दरूपिणी राधा एवं व्रजांगनाओं की क्रीड़ा आपातत: काम सदृश दीखती पर वस्तुत: प्रेम को पोषित एवं पल्लवित करती है। यहां देह और आत्मा, जड़ और चैतन्य का भेद नहीं है। व्रज में काम आत्मरत प्रेम की चेष्टा मात्र है, जड़ देह की कामवृत्ति नहीं। श्रीकृष्ण काम के वशीभूत नहीं है। वे तो मन्मथ-मन्मथ हैं। उनकी अलौकिक आत्मानुभूति की देह का प्राकृत काम स्वत: मूर्छित हो जाता है जैसा कि नंददास की रासपंचाध्यायी में वर्णित है। श्रीकृष्ण इंद्रियगामी नहीं हैं, वे प्रत्येक घट में स्थित अन्तर्यामी हैं जो नित्य आत्मानंद के कारण सतत् एकरस हैं :

"नहिं कछु इन्द्रियगामी, कामी कामिन के जन।
सब घट अन्तरयामी स्वामी परम एकरस।।
नित्य आत्मानन्द, अखंड स्वरूप उदारा।
केवल प्रेम सुगम्य, अगम्य अपार पारावारा।।"[3]

१- सिद्धान्तविचार लीला, पृ० ७६, ब्यालीस लीला-ध्रुवदास।

२- "... यहां को नेम ऐसो है जो प्रेम शोभा पावै। एकरस समझनी कौं ताना बाना होइकै मिलि एक पट भयो, स्वाद के लिये नेम न्यारे कै कहे हैं नेम प्रेम को साधन सौ एक जानिबो।" --सिद्धान्तविचार लीला, पृ० ७७, ब्यालीसलीला-ध्रुवदास।

३- नंददास - सिद्धान्तपंचाध्यायी ६०, पृ० १९१।

ऐसे रस में भेम प्रेम की सक्रियता है। जब प्रेमी युगल पर प्रेमसिंधु आप्त हो जाता है तब वे विवश हो जाते हैं, जब भेम की तरंग तरंगायित होती है तब वे चैतन्य होते हैं। प्रेम की क्रिया विवशता है तथा भेम की सावधानता। ये दोनों एक ही, स्वाद के लिए भिन्न कहे गये हैं[1]। यह भेद असंप्रज्ञात एवं संप्रज्ञात समाधिवत् है। इसीलिए उद्धव जैसे ज्ञानी एवं ब्रह्मनिष्ठ भक्त में भी गोपियों के भाव की वांछा देखी जाती है।

किन्तु ब्रजदेवियों के विशुद्ध प्रेम के अभाव में कुब्जा आदि पात्रों में जो रति देखी जाती है उसे कामप्राया कहते हैं।

<u>संबंधरूपा :</u>

भगवान में पिता आदि के अभिमान अर्थात् मैं कृष्ण का पिता, सखा, बन्धु, माता आदि हूँ — इस प्रकार की भावना पर आधारित भक्ति संबंधरूपा भक्ति कहलाती है। वृष्णिगण ने सम्बन्धमात्र से ही कृष्ण को प्राप्त किया था। यहाँ वृष्णि शब्द उपलक्षण मात्र है, इसके द्वारा गोपगण को भी ग्रहण करना होगा क्योंकि कृष्ण में ईश्वरत्व ज्ञानशून्य होने के कारण गोपों का भी रागात्मिका भक्ति में अधिकार है[2]।

रागात्मिका भक्ति दो प्रकार की है, कामानुगा व सम्बन्धानुगा[3]। इस रागानुगा भक्ति के अधिकारी वे हैं जिनकी बुद्धि शास्त्र किंवा युक्ति की अपेक्षा न रखकर केवल नंद यशोदा गोपी आदि के भावमाधुर्य का श्रवण करके तद् भावों को प्राप्त करने को समुत्सुक रहती है। इस भक्ति में न शास्त्र है न युक्ति, केवल लोभ ही इसका एकमात्र हेतु है[4]।

१- ध्रुवदास — सिद्धान्तविचार लीला, पृ० ५६

२- "सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वाद्यभिमानिता।
अत्रोपलक्षणतया वृष्णीनां वल्लभा मताः।।
ऐश्वर्यज्ञानशून्यत्वादेषां रागे प्रधानता।।" २९४।। पूर्वविभाग, द्वितीय लहरी, भक्तिरसामृतसिंधु।

३- "रागात्मिकाया द्वैविध्याद्द्विधा रागानुगा च सा।
कामानुगा च सम्बन्धानुगा चेति निगद्यते।। २९७।। पूर्वविभाग-द्वितीयलहरी, भक्तिरसामृतसिंधु।

४- "नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्।। २९८।।
पूर्वविभाग, द्वितीय लहरी, भक्तिरसामृतसिंधु।

जब तक भाव का आविर्भाव नहीं होता तभी तक वैधी भक्ति का प्रयोजन रहता है। जब तक लगन नहीं लगती तब तक शास्त्रीय सिद्धान्त आवश्यक है। जब तक देह में आसक्ति है तब तक वैधी भक्ति अनिवार्य है। देह लग्नता से आत्मा जब प्राप्त नहीं होती तब रस का अधिकार मिल जाता है[1]। वैधी भक्ति के जो अधिकारी हैं उन्हें शास्त्र एवं अनुकूल तर्क की अपेक्षा करना उचित है, रागानुगाश्रयी भक्तों को उतना नहीं। शास्त्र विधि के अनुसार भजन वैधी भक्ति है और लोभयुक्त विधिमार्ग से जो भजन है वह रागानुगा भक्ति है। इन दोनों का थोड़ा-बहुत संबंध है। ये साथ साथ कुछ दूर तक चल सकते हैं। इसीलिए वैधी भक्ति में श्रवण कीर्तन आदि नवधाभक्ति के जो अंग कहे गये हैं, रागानुगा भक्ति में भी उन अंगों की उपयोगिता स्वीकार की गयी है। अन्तर केवल भजन की मनोदशा का है। एक में भाव का जागृति बुद्धि प्रेरित है,- तर्क से भक्ति की महत्ता उद्बुद्ध की जाती है, शास्त्र से उसका अनुमोदन लिया जाता है, दूसरे में हृदय की प्रधानता है — राग से भक्ति की उत्कृष्टता अनुभव की जाती है, एवं रागाविष्ट भजन से तादात्म्य प्राप्त कर उसकी अनुभूति संपादित की जाती है।

कामानुगा :

कामरूपा भक्ति की अनुगामिनी जो तृष्णा है उसे कामानुगा भक्ति कहते हैं। यह संभोगेच्छामयी तथा तत्तद्भावेच्छामयी भेद से दो प्रकार की होती है[2]।

इन दोनों प्रकारों में से अभीष्ट इष्टदेव के भाव को प्राप्त करने की इच्छा पर आश्रित तत्तद्भावेच्छामयी कामानुगाभक्ति को, जो रागानुगाभक्ति की प्रतीका है ही, मुख्य माना गया है। संभोग शब्द का तात्पर्य केलि अर्थात् क्रीड़ामात्र से है। केलिविषयक तात्पर्यवती भक्ति को "संभोगेच्छामयी" कहा गया है और अपनी अपनी स्वामिनी के भावमाधुर्य की कामना पर आधारित भक्ति को "तत्तद्भावेच्छात्मिका"। श्रीकृष्ण के माधुर्य का दर्शन करके अथवा उनके साथ

1- जब लौं लगन लगी नहीं तबही लौं सिद्धान्त।
लगन लगी तब रस बिना श्रवण कथन सब भ्रान्त।।६१।।
जब लग मन तन में रहै तब लगि सर्व संभार।
लगन भयौ जब देह तें तब रस कौ अधिकार।।६२।।सुधर्मबोधिनी, पृ० ६७।।

2- "कामानुगा भवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी।
संभोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छात्मेति सा द्विधा।।२९३।।
पूर्वविभाग-द्वितीय लहरी, भक्तिरसामृतसिंधु।

गोपियों की लीला का श्रवण करके जो भक्त उस भाव की आकांक्षा करते हैं वे उस विविध कामानुगा भक्ति के अधिकारी होते हैं। पुरुषों में भी इस भक्ति की आकांक्षा हो सकती है।[1] प्रसिद्ध है कि दण्डकारण्य के महर्षिगण ने राम के रूप से प्रभावित होकर कृष्णावतार में गोपीदेह धारण किया था।

रागानुगाभक्ति का एक रूप द्वारिका में महिषियों का प्रेम है। जो भक्त सुष्ठु रमणाभिलाषी होकर केवल विधि मार्गानुसार सेवा करते हैं, वे द्वारिका में महिषीत्व पाते हैं।[2]

रागानुगा भक्ति केवल मात्र कृष्ण एवं कृष्णभक्त की करुणा से प्राप्य है। रूपगोस्वामी ने कहा है कि इस रागानुगा भक्ति को कोई पुष्टिमार्ग कहते हैं, स्पष्ट ही यहाँ वल्लभाचार्य जी की ओर संकेत है।

<u>भावभक्ति :</u>

शुद्धसत्त्वमय प्रेमस्वरूप सूर्यकिरण की सादृश्यमयी तथा रुचि (अर्थात् भगवान की प्राप्ति की अभिलाषा) द्वारा चित्त को स्निग्ध करने वाली भक्ति का नाम भावभक्ति है।[3]

यहाँ पर "प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाव" से उदय होते हुए सूर्य को समझना चाहिए। सूर्य के उदय होने पर जिस प्रकार किरणों में अत्यल्प प्रकाश होता है उसी प्रकार प्रेम के अत्यल्प प्रकाश
प्रथमावस्था को भाव कहते हैं, यह भाव ही क्रमशः प्रेमदशा को पहुँचता है।

१- "श्रीमन्मूर्तेर्मधुरां प्रेक्ष्य तल्लीलां निशम्य वा।
तद्भावाकांक्षिणो ये स्युस्तेषु साधनतान्वयोः ।।
पुराणे श्रूयते पाद्मे पुंसामपि भवेदियम् ।। २९५।। पूर्वविभाग, द्वितीय लहरी, भक्तिरसामृत सिंधु।

२- रिरंसां सुष्ठु कुर्वन् यो विधिमार्गेण सेवते।
केवलेन स तदा महिषीत्वमियात् पुरे ।। २९७।। पूर्वविभाग, द्वितीय लहरी, भक्तिरसामृतसिंधु

३- "शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ।।१।।
पूर्वविभाग, तृतीय लहरी, भक्तिरसामृतसिंधु ।।

इस भावभक्ति के आविर्भाव के कई कारण हो सकते हैं, किन्तु दो प्रमुख कारण हैं— साधन में अभिनिवेश, कृष्ण एवं कृष्णभक्त का अनुग्रह। इनमें से साधनाभिनिवेशज भाव प्रायः सभी में हुआ करता है और दूसरा अत्यन्त विरल है।

वैधी और रागानुगा मार्ग भेद से साधनाभिनिवेशज भाव दो प्रकार का होता है। वैधी साधनाभिनिवेशज भाव साधक में रुचि एवं हरि में आसक्ति उत्पन्न करके रति को आविर्भूत करता है।[1] साधनव्यतिरेक जो भाव उत्पन्न होता है उसे कृष्ण तथा कृष्णभक्त प्रसादजनित कहा जाता है।[2]

श्रीकृष्ण का प्रसाद (अर्थात् उनकी प्रसन्नता या कृपा) तीन प्रकार का होता है : वाचिक, आलोकदान व हार्द। कृष्ण का वचनों से अनुग्रह प्रदान करना वाचिक प्रसाद है, कृष्ण का दर्शन कर आह्लादित होना उनका आलोकदान प्रसाद है, कृष्ण के हृदय-जनित भाव से उत्पन्न प्रसाद हार्द है।

भाव आविर्भाव के कई लक्षण हैं। जिनमें भाव का अंकुरमात्र जन्मा है उन सब व्यक्तियों में मुख्यतया निम्नलिखित अनुभाव प्रकाशित होते हैं :

१- क्षान्ति
२- अव्यर्थकालता
३- विराग
४- मानशून्यता
५- आशाबन्ध
६- समुत्कंठा
७- नामगान में सर्वदा रुचि

१- साधनाभिनिवेशस्तु तत्र निष्पादयन् रुचिम्।
हरावासक्तिमुत्पाद्य रतिं संजनयत्यसौ ॥५॥
पूर्वविभाग, तृतीय लहरी, भक्तिरसामृतसिंधु।

२- साधनेन विना यस्तु सहसैवाभिजायते।
स भावः कृष्णतद्भक्तप्रसादज इतीर्यते ॥६॥
पूर्वविभाग, तृतीय लहरी, भक्तिरसामृतसिंधु।

८- भगवद्गुणाख्यान में आसक्ति

९- भगवान के वासस्थान में प्रीति

क्षोभ का कारण उपस्थित होने पर भी चित्त के अक्षोभ को क्षान्ति कहते हैं जैसे मृत्यु की बात सुन कर भी राजा परीक्षित का अचंचल रहना। अन्य विषयजन्य व्यापारों में प्रवृत्त न होकर केवल भगवत्सेवा में ही नियुक्त रहने को अव्यर्थकालत्व कहा गया है। इन्द्रियार्थों अर्थात् शब्दस्पर्शादि के प्रति जो स्वाभाविक अरोचकता है उसका नाम मानशून्यता है। भगवान की प्राप्ति की दृढ़ तर संभावना को आशाबन्ध कहते हैं। "मैं भगवान को निश्चय ही प्राप्त करूंगा" इस प्रकार की आशा को आशाबन्ध कहते हैं। अपने अभीष्ट लाभ के लिए जो गुरुतर लोभ है उसका नाम समुत्कंठा है।

यह भाव रति में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण की स्निग्धता रति का लक्षण है। मुमुक्षु, ज्ञानी तथा कर्मी में जो रति देखी जाती है उसे रत्याभास कहते हैं। रत्याभास दो प्रकार का होता है - छाया व प्रतिबिम्ब।

जो श्रमव्यतिरेक अभीष्ट प्राप्त कराता है एवं जो भोग तथा मोक्ष की भावना से आक्रान्त रहता है उस रत्याभास को प्रतिबिम्ब कहा जाता है। क्षुद्र, कौतुकमयी, चंचल, दुःखहारिणी जो रति है वह छाया रत्याभास है[1]।

भगवद्भक्तों की कीर्तनादि क्रिया, जन्म-यात्रा इत्यादि भगवत्काल, वृन्दावन मथुरा इत्यादि भगवद्धाम एवं स्वयं भगवद्भक्त -- इनके आनुषंगिक या युगपत् मिलन से कभी कभी अज्ञ व्यक्तियों में भी रति की छाया लक्षित होती है।

१- "क्षुद्रकौतुकमयी चंचला दुःखहारिणी

रतिच्छाया भवेत् किंचित् तत्सादृश्यावलम्बिनी ।।२२।।

पूर्वविभाग, तृतीय लहरी, भक्तिरसामृतसिंधु ।

साधनों का त्याग नहीं करता किन्तु स्वभावतः उसका मन साधनों के रहस्य को समझ कर अकर्म हो जाता है ।[1] ज्वराभिभूत की रुचि अपने आप अन्न पर से हट जाती है । पुष्टि अर्थात् भगवान के अनुग्रह द्वारा ही ऐसे जीवों की भक्ति पुष्ट होती है । इसे [illegible] ने प्रेमातुरा भक्ति कहा है ।

अन्तिम है शुद्ध पुष्ट भक्त जो भगवान् के सान्निध्य में लीला का आनन्द ले रहे हैं । इन्हें साधक भक्तों की कोटि में न रखकर सिद्ध भक्तों की कोटि में रखा जाता है । मन की श्रीकृष्ण में सतत एवं अविच्छिन्न गति शुद्ध पुष्टि भक्ति कहलाती है । इस भक्ति में भगवान् से प्रेम का व्यसन हो जाता है । ऐसा भक्त अहर्निश भगवान् की लीलाओं का दर्शन एवं उपभोग करता है वह शुद्ध पुष्टभक्त है । इस भक्ति में अनुग्राह्य एवं अनुग्राहक की पृथक सत्ता नहीं रह जाती । जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलकर अपना पृथक अस्तित्व खो देती है, उस समुद्र की ऊर्मि मात्र बनकर रहती है, उसी प्रकार शुद्ध पुष्ट भक्त अपनी समस्त चेतना को श्रीकृष्ण में डुबाकर उन्हीं का अंशरूप होकर उनकी क्रीड़ा का आस्वादन करता है । यह साधन भक्ति नहीं सिद्धभक्ति है, इसे प्रेमलक्षणा भक्ति किंवा परा भक्ति की चरमपरिणति माना गया है । साधन, भाव, प्रेम भक्ति के भी ऊपर यह कदाचित् सिद्धभक्ति की नई श्रेणी में रखी जा सकती है ।

ब्रज के अन्य कृष्ण भक्ति संप्रदायों ने भक्ति को मुख्यतः दो श्रेणी में विभाजित किया है—— वैधी, प्रेमलक्षणा । वैधी भक्ति में विधि निषेध का शास्त्रीय विधान तो है ही उसके अन्तर्गत मुख्यतः नवधा भक्ति को परिगणित किया गया है। प्रेम लक्षणा भक्ति में प्रेम प्रवण भक्ति के सभी भावों को स्वीकार किया गया है । साधन, भाव, प्रेम आदि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण ब्रज के संप्रदायों ने नहीं किया ।

१- भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद—— भट्ट रमानाथ शास्त्री पृ० ४०

भक्ति के अनिवार्य साधन :

भक्ति चाहे किसी भी प्रकार की हो, वह केवल अपने पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं हो सकती । भक्तिमार्ग में कुछ ऐसे आवश्यक तत्त्व हैं जिनके बिना भक्ति नहीं प्राप्त होती, उनको बिना स्वीकार किये हुये भक्ति की कल्पना की जा सकती है, अनुभूति नहीं । साधना के लिये निम्नलिखित तत्त्व आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हैं ।

१- भगवत्कृपा किंवा `अनुग्रह`

भक्ति अपने अध्यवसाय से उस प्रकार साध्य नहीं है, जिसप्रकार ज्ञान । भक्त अपने से महत्तर किसी शक्ति की कृपा, संरक्षण एवं सहायता पर निर्भर रहकर भक्तिभाव प्राप्त करता है । अतएव भक्तिमार्ग विशेषकर प्रेमलक्षणा भक्तिमार्ग का मूलमंत्र है श्रीकृष्ण की कृपा या अनुग्रह । वल्लभाचार्य जी ने तो अपने सम्प्रदाय का नामकरण ही `पुष्टि मार्ग`अर्थात अनुग्रह मार्ग किया है । पुष्टि का अर्थ है दुर्बल, कर्तृत्वविहीन जीव का श्रीकृष्ण के अनुग्रह द्वारा पोषित होना । अनुग्रह का अर्थ है भगवान के द्वारा भक्त का हाथ पकड़ा जाना, उसे ग्रहण किया जाना । अनुग्रह और कृपा समानार्थी हैं ।

यह अनुग्रह हेतुरहित होता है, भगवान की कृपा अहैतुकी होती है क्योंकि उनकी कृपा उनके प्रेम का ही रूप है, ऐसा निर्हेतु प्रेम जो प्राणिमात्र की ओर झुका हुआ है एवं उसको स्वाभिमुख करने में सतत प्रयत्नशील है । मायाग्रस्त जीव के लिये यह उनका `प्रसाद`है जो उनसे युक्त होने की प्रक्रिया-- भक्ति--का सर्वोपरि साधन है । श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, वे सर्वशक्तिमान हैं । उनका अनुग्रह उनके सर्वसमर्थ प्रेम की शक्ति है अतएव भक्त की ओर से अन्य साधनों के अभाव में भी सर्वशक्तिसंपन्न है । श्रीकृष्ण सर्वसामर्थ्यवान् हैं, ईश्वर होने के कारण `कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्`की शक्ति रखते हैं । असंभव संभव सभी कुछ कर सकते हैं । इसे उनका स्वरूपबल कहा जाता है । इसीलिये उनकी कृपा भक्तिपक्ष के सभी साधनों के अभाव में भी सर्वशक्तिमती होकर केवल अपने स्वरूपबल से ही जीव का उद्धार करने की सामर्थ्य रखती है । वही भक्ति के लिये उपयुक्त भूमि बनाती है और वही बीजारोपण करके उसे पल्लवित पुष्पित करने के पश्चात् फलवती करती है । अतएव भक्त अपनी सीमित शक्ति के अवलम्ब से साधना को गति न देकर श्रीकृष्ण के अनुग्रह के बलवान प्रसाद का आवाहन करता है । श्रीकृष्ण की कृपा का अवलम्बनीय जीव के मलिन बुद्धि रूप को उज्ज्वल बनाकर, उसकी मलिनता धोकर उसे भगवत्प्रेम के योग्य बनाता है । वल्लभाचार्य जी ने कहा है कि कृष्ण की अनुग्रह-रूपिणी पुष्टि काल, कर्म एवं स्वभाव आदि की बाधिका है । अर्थात् इन सीमाओं

से उत्पन्न मानव की तमाम असमर्थताओं को केवलमात्र भगवान की अनुग्रहकारिणी पुष्टि ही निरस्त कर सकती है । बिना इन बाधाओं के ध्वंस हुये भक्ति नहीं हो सकती और इन बाधाओं का पूर्णरूपेण अतिक्रमण करना जीव की स्वशक्ति से साध्य नहीं है कृष्ण के अनुग्रह से ही साध्य है । अतएव भगवान का अनुग्रह भक्ति[1] का सर्व समर्थ, सशक्त एवं अपरिहार्य साधन है । अनुग्रह श्रीकृष्ण का पराक्रम है ।

भगवदनुग्रह में पात्र की योग्यता अयोग्यता का कोई प्रश्न नहीं रह जाता । योग्यता—अयोग्यता के प्रतिदान में जैसा को तैसा देना तो व्यावहारिक बुद्धि का मानदंड है, प्रेम- प्रवणता का नहीं । अत: व्यक्ति यदि अयोग्य और निस्साधन भी है तब भी वह भगवान की कृपा प्राप्त कर सकता है क्योंकि भगवान जीव के उद्धार के लिये उसकी योग्यता अयोग्यता पर विचार नहीं करते । सूरदास जी के शब्दों में

'राम भक्त वत्सल निज बानौं ।
जाति, गोत, कुल, नाम, गनत नहिं रंक होइ कै रानौं ।[2]

योग्यता के अभाव में भी यदि कोई उनका आश्रय ग्रहण करता है, तो उसका भी उत्तरदायित्व वे लेते हैं । भगवान पूर्ण पुरुषोत्तम है, सर्व गुणों के आकर, समस्त योग्यताओं के चरमविकास, समस्त शक्तियों के स्वामी, एवं नियन्ता है, वे किसी व्यक्ति की शक्ति सीमित योग्यता पर क्या रीझ सकते हैं ? केवल समर्पण या अनन्यता उनकी सहायता को मन्जूर कर सकती है । अत: अपनी सीमाओं से भिज्ञ व्यक्ति की अकिंचनता ही उनकी कृपा का आवाहन कर सकती है और दैन्य ही उस महत् तत्त्व को सम्भाल सकता है ।

यों तो भगवत्प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं, अनेक साधन हैं, किन्तु सर्वोत्तम साधन भगवत्कृपा का ही है । कृपामार्ग की विशिष्टता पर प्रकाश डालते हुये कहा गया है कि "जिस संप्रदाय में साधन और फल भगवान् श्रीकृष्ण ही हों और जहां भगवान् की कृपा ही सब कुछ मानी गई हो उसे ही पुष्टि मार्ग कहते हैं । जहां भगवान् की कृपा ही भगवान् से मिलाने का एकमात्र साधन समझी गयी हो-- उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं ।- जहां भगवान् स्वयं जीव का वरण करने में उसकी योग्यता नहीं देखते प्रत्युत अपने में

१- 'यह पुष्टि भगवान का धर्म है । अनुग्रह रूप इस भगवद्धर्म से काल कर्म और स्वभाव का भी बाध हो जाता है।---अनुग्रह भगवान् श्रीकृष्ण का पराक्रम है, अतएव उनका ही धर्म है जैसे सूर्य का प्रकाश ।'अनुग्रह मार्ग : [illegible] रमानाथ शास्त्री: पृ० ३-४

२- सूरसागर 'विनय' पद सं० ११

अधिकारी हैं । जो जहाँ, जिस अवस्था में, चेतना के जिस स्तर पर है, भगवान की कृपा वहाँ उसी अवस्था में, चेतना के उसी स्तर पर उसमें क्रियाशील हो सकती है । सब अपनी सामर्थ्य के अनुसार कृपा का अनुभव करते हैं । उस कृपा से जीव की कोई कोटि वंचित नहीं रहती । अनुग्रह की सीमा के अन्तर्गत प्रवाही जीव से लेकर मर्यादा जीव, पुष्टिपुष्ट जीव, शुद्ध पुष्ट जीव तक आ जाते हैं । मोह माया, ईर्ष्या, दुर्गुण काम-क्रोध की प्रबल धारा में बहता हुआ प्रवाही जीव भी करुणामय श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त कर सकता है, एवं उस कृपा के सहारे संसार के दुर्धर प्रवाह से अलग होने में सक्षम होता है । उस प्रवाह से अपने को बचाने में सक्षम पाकर भगवान की कृपा बल से बढ़ परिमाण पा जाता है । दूसरा वर्ग मर्यादावादियों का है, ये सात्विक जप धर्माचरण को अन्तिम मानकर उसे ही परमप्राप्तव्य समझ बैठते हैं । ऐसे व्यक्ति मनःकल्पित सीमाओं में बंधी हुई आत्मा की स्वच्छन्दता की कल्पना में मग्न रहते हैं । इन मर्यादाबद्ध जीवों पर भी भगवान् की कृपा होती है । बन्धन, बन्धन है चाहे वह सात्विकता का ही क्यों न हो, माया त्रिगुण है चाहे वह गुण सात्विक ही क्यों न हो । भगवान् का अनुग्रह ऐसे जीवों के आत्म-कृत्य विधान में हस्तक्षेप करके उन्हें अपनी कृपा से चेतना का दूसरा लोक दिखाता है, विधि निषेध के अनुबंध से निकाल कर आत्मा के उन्मुक्त आकाश में ले जाता है । पुष्टि पुष्ट भक्तों में भक्ति के संस्कार तो निहित रहते हैं किन्तु उनमें सांसारिकता से नितान्त अलिप्तता रहने की दृढ़ता नहीं होती । श्रीकृष्ण उनकी उस प्रवाही प्रवृत्ति को रोक कर भक्ति को पुष्टतया उद्बुद्ध करते हैं, कृपा द्वारा उनका मार्ग प्रशस्त करते हैं ।

इसप्रकार कृपा का रूप पात्र की योग्यता के अनुसार प्रकट होता है, किन्तु वह है एक ही वस्तु—श्रीकृष्ण का स्वरूप बल ।

गुरु-आश्रय :

भगवत्-कृपा का अपूर्व रूप किसी शरीरी भक्त आत्मा में पूर्ण होता है । केवल भगवान् ही को गुरु मानकर साधना मार्ग की तमाम उलझनों तथा विघ्नों का निराकरण नहीं हो पाता, क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण से तादात्म्य प्राप्त किसी भक्त का आश्रय लेना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो जाता है । गुरु के संग के अभाव में भक्ति नहीं सिद्ध हो सकती । गुरु मानव देहधारी होता हुआ भी मानवी चेतना में निवास नहीं करता, वह भावरूप होकर भगवद्रूप हुआ रहता है, इसीलिये वह भक्त को भगवान तक ले जाने में सक्षम होता है । वह इष्टदेव का प्रतिनिधि किया हुआ है, भक्त और

वस्तुतः नामरूपात्मक दृष्टि में भ्रान्त मन बुद्धि को सत्य से परिचित कराने के लिये किसी मूर्त आधार की आवश्यकता होती है । साधारण जीवन यापन करता हुआ जीव भगवान को भूला रहता है, इस भूली के परिणामस्वरूप उसे कष्ट का भी अनुभव हुआ करता है, किन्तु आत्मप्रकाश के अभाव में वह अज्ञान के तम में डूबा सुख दुख पाता रहता है । जीव "संसार" में रत होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है, जीवन के उद्देश्य को विस्मृत कर बैठता है । भौतिकता के आवेश के कारण जीव अपने मूलस्वरूप से, अपने और परमात्मा के नित्य-संबंध से बिलकुल अनभिज्ञ रहता है । वास्तव सुख के केन्द्र से विमुख होकर वह अनाम क्षणिक सुखों में आत्म परितुष्टि खोजता है, किन्तु कभी शान्ति का अनुभव नहीं कर पाता । व्यामोह के अंधकार में उसकी आत्मचेतना भटकती रहती है । आत्मचेतन जीव के लिये अज्ञान कभी वरदान नहीं हो पाता, "अज्ञान सुख है" (Ignorance is bliss) का सूत्र उस पर चरितार्थ नहीं हो पाता, इसलिये वह भ्रान्तियों में उलझा हुआ असंतुष्ट रहता है । जीवन के मर्म में किसी वेदना का उसे आभास होता है, यह वेदना सत्य के अभाव की होती है । किन्तु असंतोष के बावजूद भी वह अपने को संसार-चक्र से छुड़ा नहीं पाता, गुरु ही उसका उद्धार करता है । गुरु आत्मा को अभ्रान्त दृष्टि देकर सत्य से उसके संबंध सूत्र को जोड़ता है । गुरु व्यक्ति का सम्बन्ध आनंद, प्रेम, सौन्दर्य, सुख एवं शान्ति के उस परमज्योति से जोड़ देता है जिसके दर्शन व सान्निध्य से अज्ञान की छूटती हुई सांसें ज्योतिर्मय हो उठती हैं । व्यक्ति को सामान्य सांसारिक प्राणी से भगवान का भक्त गुरु ही बना देता है, यह अद्भुत सामर्थ्य उसी में है ।[1]

गुरु व्यक्ति की आत्म-प्रेरणा को स्पष्टतर एवं प्रखरतर करता जाता है, एवं अन्त में भगवान से मिला करवाता है । अज्ञान के संस्कारों के कारण जीव की आत्म प्रेरणा बहुत कुछ धुँधली तथा अस्फुट होती है । आत्मा की नीरव पुकार को गुरु वाणी देता है एवं प्रकाश की मांग को स्पष्ट करता है । वह न केवल ज्योति को उकसाता है वरन् साधना के नाना अवस्थाओं में उस लौ का संरक्षण करता है । शिष्य की

१- "गुरु बिनु ऐसी कौन करै ?
माला तिलक मनोहर बाना, लै सिर छत्र धरै ।
भवसागर तैं बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै ।
सूरस्याम गुरु ऐसो समरथ, छिन मैं लै उधरै ।।" सूरसागर, पद सं. ४१७

बालक की भाँति संरक्षित संवर्धित रखकर वह उसे भगवान से साक्षात्कार के लिये प्रौढ़ एवं पुष्ट करता है । अतः गुरु साधना का अपरिहार्य अंग है भगवत्कृपा के पोषण के लिये बल एवं प्रकाश के समान है । वह साधना में पिता का संरक्षण माता का पोषण मित्र का परामर्श,एवं शिक्षक का शुभचिंतन-- सभी कुछ अपने दिव्य व्यक्तित्व से देता है । अज्ञानलिप्त व्यक्तित्व के सभी अंगों को ब्रह्म में समर्पित करवाता है और इसप्रकार अज्ञान का निदान करता है । अहंता ममता के शासन से मुक्त करके भगवान के प्रति शरण का भाव गुरु ही "ब्रह्म-- संबंध" द्वारा जगाया करता है । व्यक्तित्व तथा जीवन के सभी स्त्रोतों को गुरु भगवान की ओर उन्मुख कर देता है,पुष्टिमार्ग में इसे "ब्रह्म--संबंध" कहा गया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चेतना के विकास में गुरु का महत्वपूर्ण हाथ है,अतः भक्तिमार्ग में भगवान के साथ ही गुरु के प्रति समर्पण भी अपेक्षित है । यह समर्पण एक प्राणी का अन्य समकक्ष प्राणी के प्रति नहीं होता,यह समर्पण मानव का अपनी ही दिव्यता के प्रति होता है । उसी का दिव्यरूप तो गुरु में साकार हुआ रहता है, इसलिये गुरु साधना की प्रेरणा कहाता है । यों तो अन्तर्यामी भगवान सबके गुरु हैं किन्तु उनका आदेश या प्रेरणा व्यक्ति की बाह्यचेतना में निर्भ्रान्त नहीं रह पाती । अन्तर्यामी गुरु के प्रति भी आत्मसमर्पण होता है किन्तु वह पूर्ण नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहाँ आत्मा भगवान से नित्ययुक्त है,वहाँ समर्पण कोई विशेष अर्थ नहीं रखता । समर्पण की वास्तविक आवश्यकता इस देह,मन,प्राण में आबद्ध चेतना में है,अहं की दुर्विनीत बाह्यचेतना का समर्पण ही प्रमुख समर्पण है । यह बाह्यचेतना अमूर्त अन्तर्यामी को ठीक ठीक नहीं समझ पाती अतः समर्पण भी नहीं कर पाती अस्तु गुरु के मूर्तरूप में व्यक्त दिव्य सत्ता को अपना समर्पण करती है । गुरु के प्रति समर्पण से व्यक्तित्व की संपूर्णता साधित होती है । यह समर्पण न केवल अन्तरात्मा को जागृत करता है वरन् मनुष्य की बाहरी चेतना में जहाँ अहं का स्वच्छंद साम्राज्य है,वहाँ भी भागवत चेतना को स्थापित करता है । इसीलिये गुरु के प्रति समर्पण को सारे समर्पणों से श्रेष्ठ कहा गया है । लौकिक क्षेत्र में इसे अंधश्रद्धा की संज्ञा दी जाती है । अहंप्रधान व्यक्ति इसे व्यक्तित्व-विहीनता समझता है किन्तु भक्ति में अहं का संपूर्ण तिरस्कार है अतएव यहाँ अभिमान के आहत होने का प्रश्न नहीं उठता । श्रद्धा में जिज्ञासा की कहीं भी अवहेलना नहीं है । सत्य का जिज्ञासु प्राणी गुरु के दिव्य अंश के प्रति समर्पण करके अपना संस्कार करता है। यह सच है कि वास्तविक गुरु अत्यन्त विरल हैं,"गुरु"कहने वाले ढोंगी साधु विलासप्रिय

व्यक्ति को नाना प्रकार से छलते फिरते हैं । किन्तु वस्तु की विरलता उसकी असत्यता होने का प्रमाण नहीं है । गुरु एक प्रतीक है, अंतश्चेतना को बाह्यचेतना से एकाकार करने का व्यावहारिक प्रकाश, पथ का आलोक--स्तंभ । आत्मा के गुप्त अंशों को पढ़ने के लिये वह अनिवार्य माध्यम है । अतः गुरु बनना कोई खिलवाड़ नहीं है । शास्त्र में गुरु के अनेक लक्षण बताये गये हैं; गुरु का अनेक विरल गुणों से विभूषित होना आवश्यक है अन्यथा वह गुरु नहीं हो सकता । 'हरिभक्ति विलास' में गुरु की मूर्ति इस प्रकार अंकित की गई है :---

'अवदातान्वयः शुद्धः स्वोचिताचारतत्परः । आश्रमी क्रोधरहितो वेदवित् सर्वशास्त्रवित् । श्रद्धावाननसूयश्च प्रियवाक् प्रियदर्शनः । शुचिः सुवेशस्तरुणः सर्वभूतहिते रतः । धीमाननुद्धतमतिः पूर्णोऽहन्ता विमर्शकः । सगुणोऽर्चासु कृतधीः कृतज्ञः शिष्यवत्सलः ।।३२।। निग्रहानुग्रहे शक्तो होममन्त्रपरायणः । ऊहापोहप्रकारज्ञः शुद्धात्मा यः कृपालयः । इत्यादि लक्षणैर्युक्तो गुरुः स्याद्गरिमानिधिः ।[1]

संक्षेप में, गरिमा की निधि गुरु को शुद्ध, श्रद्धावान, शुचि, क्रोध रहित, धीमान, शिष्यवत्सल, निग्रही आदि होना चाहिये तथा उसमें शास्त्रज्ञान एवं विमर्श द्वारा ऊहापोह आदि की तुलना करने की योग्यता भी होनी चाहिये ।

रसमार्गीय कृष्णभक्ति साधना में गुरु का राधाकृष्ण के नित्यात्मक रस से पूर्णतया परिचित होना भी आवश्यक है । उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त उसमें ही सारस के स्फुरण की क्षमता भी अपेक्षित है । चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य, हरिदास स्वामी एवं हितहरिवंश भी भक्ति की शब्दावली में 'रसिक' भी कहे जाते हैं । उनमें सामान्य भक्ति को उद्बुद्ध कर देने की ही क्षमता नहीं थी, वे भक्त की चेतना में कृष्ण की लीला को, उनके रस को प्रवाहित कर सकने में समर्थ थे, भक्त एवं भगवान के बीच की रसमाधुरी को प्रकट करने में समर्थ थे । इसलिये ये आचार्य ललिता आदि सखियाँ, कृष्ण की वंशी या स्वयं राधा के अवतार माने जाते थे ।

१- हरिभक्ति विलास, प्रथम विलास -- प्रथम विलास, श्रुति ३२, ३३ ।

३ आत्मसमर्पण :

प्रेम में दो तत्त्व समानरूप से विद्यमान रहते हैं ---- आकर्षण एवं समर्पण । भगवान् के प्रति आकर्षण विकारों के प्रक्षालन पर ही उत्पन्न हो पाता है,यह प्रक्षालन उनके प्रति समर्पण से साधित होता है । भक्त ज्ञानी, क्रियात्मी नहीं है जो अपनी अध्यवसाय अथवा कृच्छ्र तपस्या से माया के बन्धनों से, मन के विकारों से, मुक्ति पा जाय । वह अपनी कमियों को दीनता से अनुभव करता है एवं उन्हें भगवान् के सम्मुख उद्घाटित कर रख देता है । यही उसकी ओर से भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण किंवा शरणागति है जो प्रेम भक्ति की प्रधान भूमिका है ।

समर्पण का अर्थ है जो कुछ है,जैसा है,उसे भगवान को निवेदित कर देना । भक्त अपने जीवन एवं व्यक्तित्व की सभी गतिविधियों को श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर देता है । उसमें जो भी भला बुरा है वह भगवान् को सौंप दिया जाता है । आत्मसमर्पण उत्कट आत्मनिवेदन है जिसमें भक्त अपनी समस्त त्रुटियों,समस्त उपलब्धियों सहित आराध्य के सम्मुख उपस्थित होता है,उनकी शरण ग्रहण करता है, उनका बन जाता है । उसमें कोई कामना कोई स्वार्थ,कोई अलगाव नहीं रहा जाता , अहंकार जन्य कामनाजन्य सारी विच्छुरितियाँ आराध्य को समर्पित कर दी जाती हैं ताकि भक्त भगवान् के सान्निध्य के योग्य बन सके । व्यक्तित्व के सभी अंगों सहित समर्पण होता है,उसमें देह,मन,प्राण की सारी मूर्च्छावस्थायें आत्मा के अपरिच्छिन्न प्रकाश से प्रकाशित प्रकाशान्वित की जाती हैं अत: उनमें किसी प्रकार का दुराव,दुराग्रह किंवा हठ नहीं रहा जाता । मन की कल्पनायें,स्थूलबुद्धि पर आधारित उसकी धारणायें भगवत्प्रेम के सम्मुख आत्म विसर्जन करती हैं । भक्ति में इतना ही पर्याप्त नहीं है कि मानसिक शक्तियाँ समर्पित हों,अपितु प्राणगत एवं दैहिक समर्पण पुष्टिमार्गी रागानुगा भक्ति में अपेक्षणीय है । सम्पूर्ण व्यक्तित्व का नि:शेष आत्म समर्पण कृष्णभक्त की साध है,उसमें वह सामान्य मानव- चेतना से मुक्त करके पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की परचेतना से स्फूर्तिवान करना चाहता है,अत: आधार के प्रत्येक अंग को वह परमाधार से जोड़ता है । इस क्षेत्र में मानव के प्राण एवं देह अधिक बाधा उपस्थित करते हैं । प्राणकोश के उच्चतर धरातल पर नाना प्रकार की जटिल आसक्तियों का, अधिकार भावना,महत्त्वाकांक्षा आदि का दुर्ग होता है और इसका निम्न धरातल काम,क्रोध,मत्सर,ईर्ष्या,दुर्बोध आदि का अखाड़ा बना रहता है । ये सारी प्राण- शक्तियाँ भक्ति की विरोधिनी हैं । भगवत्प्रेम ईर्ष्या दुर्बोध आदि न्यूनताओं से रहित

का दिशा परिवर्तन है, निम्न से ऊर्ध्व में आरोहण है । अतएव भक्त में दैन्य के साथ ही समर्पण का संकल्प भी अपेक्षित है । किन्तु भक्त के संकल्प तथा ज्ञानी के संकल्प में अन्तर है । भक्ति संदर्भ के समर्पण--प्रकरण में दोनों का अन्तर स्पष्ट किया गया है । देहेन्द्रियाँ ही कर्म करती हैं एवं वे ही कर्म का फल भोगती है, मैं देहेन्द्रियों से पृथक नित्यसिद्ध शुद्ध बुद्ध आत्मा हूँ, अणु चैतन्यस्वरूप हूँ--यह भावना ज्ञानेच्छु साधक के मनोसमर्पण की होती है । मैं दुःख में भटक गया हूँ, मेरी इस दुर्दशा को देखकर करुणामय कृष्ण मेरे प्रति करुणा करें, वे स्वयं यदि कृपा करके मेरे दुर्वासनाजनित दुःख को दूर न करें, तो मेरी अपनी शक्ति से इसकी निवृत्ति असंभव ही है[1]--इस प्रकार दैन्यविशिष्ट विज्ञापक भक्त के आत्मसमर्पण का स्वरूप है ।

आत्मसमर्पण का प्रमुख अंग शरणागति है । ज्ञान- वैराग्य, कर्म, आदि सबका उपदेश पाकर भी अप्रसन्न अर्जुन की विकल बुद्धि को कष्ट में देखकर भगवान कृष्ण ने अंत में यही कहा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुचः ।' साधन में असमर्थ व्यक्ति के लिये पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की शरण एकमात्र अवलम्ब है । अतः भगवान ने सभी धर्मों के परित्यागपूर्वक अपनी शरण में आने का आवाहन किया । यही भक्ति का प्रथम सोपान है । भगवान अपनी अभयदायिनी शरण में लेकर भक्त को समस्त पापों से मुक्त करने की घोषणा करते हैं । पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करने के अनन्तर भक्त को कोई भय नहीं रह जाता, वे ही उसके व्यक्तित्व का संस्कार करते हैं-- मा शुचः ।

शरणागति को प्रपत्ति भी कहा जाता है । भट्ट रमानाथ शास्त्री के शब्दों में 'प्रपत्ति का रूढ़ अर्थ है स्वीकार और यौगिक अर्थ है आत्मनिक्षेप । प्र प्रकर्षेण समन्तम्, पत्तिः अपने भगवान् में पड़े जाना, और आत्मनः अपने आपको भगवान् में निक्षेप किंवा क्षेपः अपना डाल देना दोनों बात एक ही है ।[2]

1- '------ कदाचिन्नुकम्पा भवेन दुःखितुःखमेन स करुणामयः करुणां करोत्विति वा, या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी । त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ।।' भक्ति संदर्भ : पृ० २८०

2- भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद--- पृ० २

प्रपत्ति तीन प्रकार की होती है भगवत्कृत भक्त का स्वीकार, भक्तकृत भगवान् का स्वीकार एवं मिश्र । गोपियाँ प्रथम की उदाहरण प्रथम हैं प्रह्लाद द्वितीय के उदाहरण हैं एवं मिश्रप्रपत्ति के उदाहरण हैं अर्जुन । इनमें से भक्तकृत प्रपत्ति किंवा मिश्रप्रपत्ति अधिक देखने में आती है । भगवान् कृत भक्त का स्वीकार उनकी अतिप्रसाद का उदाहरण हैं । किन्तु ऐसे भी उदाहरण मिल जायेंगे जहाँ भगवान् भक्त के पीछे दौड़ा करते हैं, और उसकी इच्छा अनिच्छा की परवाह न करके उसे अपने में केन्द्रित कर लेते हैं । अंग्रेजी कवि थाम्पसन के काव्य *(The Hound of Heaven)* में इसीप्रकार की भावना अभिव्यक्त हुई है ।

भक्त की ओर से प्रपत्ति में कुछ आवश्यक शर्तें हैं जिनकी पूर्ति पर भगवान की कृपा अनुभव में आती है । शरणागति के छह अंग हैं--- अनुकूल-संकल्प, प्रतिकूलता का वर्जन, रक्षा में विश्वास, गोप्तृत्ववरण, आत्मनिक्षेप, तथा कार्पण्य । भगवान की इच्छा के अनुरूप चलने का संकल्प अनुकूलता का संकल्प है, पूर्णसमर्पण की यह आवश्यक शर्त है । यदि शरण का कोई ढोंग समर्पण करे और कोई अपने ही रास्ते पर चलता चले तब भगवत्कृपा कार्यान्वित नहीं होती । समर्पण के पीछे अपनी इच्छाओं, अभिलाषाओं एवं दुराग्रहों का पोषण करते हुये भगवत्कृपा का आवाहन व्यर्थ है । समर्पण में भगवान की अनुकूलता ली जाती है, अहं की नहीं । आत्मोत्थान के लिये भगवान के अनुकूल चलने का संकल्प आवश्यक है । इसीके पूरक रूप में प्रतिकूलता का वर्जन अपेक्षित है । व्यक्ति के भगवद्विरोधी अंशों--वस्तुओं, विचारों, भावनाओं-- का परित्याग होना चाहिये । सत्य और मिथ्या, प्रकाश और अंधकार, समर्पण और स्वार्थ एक साथ नहीं रह सकते । अतः भक्त को इस मिथ्या धारणा को त्याग देना चाहिये कि चाहे वह भगवान के द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चले या न चले, भगवान की कृपा उसके लिये सब कुछ करती रहेगी। जीवन की मिथ्याओं एवं सत्य की छायाकृतियों का वर्जन सत्य के प्रकटीकरण के लिये आवश्यक है । जो कुछ भक्त एवं भगवान के संबंध को स्थापित होने से रोकता है उसके साकार होने में बाधक है उसका परित्याग भक्त का कर्तव्य है । भगवद्विरोधी शक्तियाँ से समर्पण में व्याघात पहुँचता है, अतः उनका परिवर्जन अनिवार्य है ।

गोप्तृत्ववरण का अर्थ है कि भगवान् में अनेक गुप्त शक्तियाँ हैं, वे सतत भक्त की रक्षा के लिये क्रियाशील रहती हैं । जो भगवान की शरण में जाता है भगवान उसकी व्यवस्था सर्व रूप से करते हैं । प्रकटरूप में उनकी कृपा कितनी अनुभवगम्य हो पाती है, उससे कहीं अधिक अप्रकट रूप में वह क्रियाशील रहती है--यही उनका गोप्तृत्ववरण है । भक्त की बाह्य चेतना, के अन्तराल में भगवान् की कृपाशक्ति अविरत भाव से उसका

उद्धार करने में गतिशील रहती है । जब उसको भगवान की करुणा का भान होता है तब[1] वह उत्फुल्ल होता है, आराध्य की असीम व्याकुलता के प्रति कृतज्ञता से भर जाता है । रक्षा में विश्वास इसी से संबंधित है । सर्वसमर्थ प्रभु की शरण में जाने पर भक्त की चिन्ता भगवान करते हैं । किन्तु मानव का संशयग्रस्त मन उनकी कृपालुता के प्रति भी संदिग्ध हो जाता है । इसलिये उसे यह विश्वास दृढ़ करना पड़ता है कि भगवान उसकी हर परिस्थिति में रक्षा करेंगे । इस विश्वास के उत्पन्न होते ही रक्षा का अनुभव होने लगता है । संशय से इस अनुभव में बाधा पहुँचती है । अतः रक्षा में विश्वास भक्त के उत्कर्ष के लिये वांछनीय है ।[2]

आत्मनिक्षेप एवं कार्पण्य परस्पर गुम्फित हैं । भक्त जैसा भी है, भला बुरा, अपने को भगवान के हाथों सौंप देता है—यही आत्मनिक्षेप है । सब कुछ छोड़कर एकमात्र भगवान् की शरण में जाना शरणागति का प्रायः अन्तिम सोपान है । भक्त का यह मनोभाव :

> 'जो हम भले बुरे तो तेरे ।
> सब तजि तुम शरणागति आयो दृढ़ करि चरण गहे रे ।'[3]

भगवान की शरण में जाने का दृढ़ संकल्प है । इस आत्म निक्षेप में कार्पण्य अवश्य रहता है, अपनी दीन-हीन अवस्था का बोध रहता है । करुणामय भगवान् के सामने अपनी प्रणति प्रकाशित करने में भक्त में स्वभावतः कार्पण्य आ जाता है । अपने दोषों का बोध उसे दैन्य से भर देता है, और उस दैन्य को लेकर ही भक्त भगवान की असीम करुणा का याचक बन जाता है । कार्पण्य भक्त की अहंकार रहितता का सूचक है ।

१- करनी करुणा सिन्धु की मुख कहत न आवै ।
   कपट हेतु परसे बकी जननी गति पावै ।।४।। 'विनय', सूरसागर

२- सरन गए को को न उबार्यौ ।
   जब जब भीर परी संतनि कौं, चक्र सुदरसन तहाँ संभार्यौ ।
   सूर स्याम बिनु और करै को, रंग-भूमि में कंस पछार्यौ ।।१४।। 'विनय', सूरसागर

३- सूरसागर— 'विनय', पद सं० १७०

संक्षेप में शरणागति के ये मुख्य कारण हैं । भक्ति में शरणागति किंवा आत्मसमर्पण का सर्वाधिक महत्व है । रागमार्गीय भक्ति अथवा भक्ति भी इस वृत्ति से आरंभ होती है । कृष्ण भक्त के लिये विधिमार्गीय भक्ति के अन्य साधनों को अपनाना उतना अनिवार्य नहीं होता जितना आत्मनिवेदन । आत्मसमर्पण से भक्त का जो कुछ भी त्रुटित है वह शुद्ध होता है, जो कुछ विकृत है वह शुद्ध में परिणत होता है, उसमें जो कुछ मिथ्या है वह सत्य में रूपान्तरित हो जाता है । यह समर्पण लौकिकता को अलौकिकता में परिवर्तित कर देने का प्रमुख साधन है । शरणागति से भक्त भगवान की तद्रूपता प्राप्त करता है ।[१]

<u>:४: नाम :</u>

यों तो मध्ययुग के निर्गुण सगुण सभी भक्ति संप्रदायों में 'नाम' का महत्व है किन्तु इसे जैसी मधुरता कीर्तन के रूप में चैतन्य-संप्रदाय में प्रदान की गई उससे नाम साधना में विशिष्ट भाव प्रवणता का संचार हुआ ।

नाम नामी का संबंध अविच्छेद्य है । कृष्ण भक्ति के सगुण भाववाद में नाम से अधिक रूप को महत्व दिया गया । किन्तु राग की प्रारंभिक स्थिति में रूप का साक्षात्कार आसान नहीं है, इसलिये नामी के प्रतिनिधि नाम का महत्व कृष्ण भक्ति संप्रदायों में रहा है । मध्ययुग के कृष्ण भक्ति संप्रदायों में स्वरूपाश्रित्र के साथ ही नाम की उपासना का भी प्रचलन था । नाम दो प्रकार का होता है--स्वरूपनाम एवं कारण बोधक । एक से इष्ट का स्वरूप प्रकाशित होता है दूसरे से उनका स्वभाव । जैसे कृष्ण राम भगवान के स्वरूपगत नाम हैं किन्तु कंसारि, गोपीजनवल्लभ, यशोदानंदन आदि कृष्ण के कारणात्मक नाम हैं, इनसे उनके स्वभाव का बोध होता है । स्वरूपनाम भगवान के स्वरूप को उद्घाटित करता है, और कारणात्मक नाम उनकी लीलाओं की स्फूर्ति में सहायक होते हैं । किन्तु पुरुषोत्तम की लीला का स्फुरण तब तक संभव नहीं हो पाता जब तक कि उनके स्वरूप की स्फूर्ति से चित्त की चंचलता नष्ट नहीं हो

१- "हरे कृपालु उदार अब निज कृत सम्भारि देहु ।
सूरदास जन जो शुभ अशुभ जो करनी करि लेहु ।।७।। कृ०क० कु०को०, पृ. ४१
अपनौं जानि प्रतीत कीन जन ज्यों विधि मधुर रस ।
सूरदास आधीन दासी जनी जन करहु ।।२४।। कृ० कु० कु०को०, पृ. ४२

भक्ति के फलीभूत होने के लिये जितना आवश्यक भगवत्कृपा तत्व है उसकी अभिव्यक्ति होने के लिये उतना ही आवश्यक सत्संग है । जिन व्यक्तियों ने भक्ति मार्ग में प्रवेश पा लिया है और माया के बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं, उन व्यक्तियों का संग नये साधक की साधना में सहायक होता है। सत्संग से उसमें सद्वृत्तियाँ संक्रमण करने लगती हैं तथा उसकी निम्नवृत्तियाँ नष्ट होने लगती हैं । जिस दिन संत से मिलन होता है उस दिन सारे धर्माचरणों का फल प्राप्त-सा हो जाता है । मिथ्या वादविवाद से परे संत भगवान के निर्मलचरित का गान करता और करवाता है । यहाँ तक कि उसकी संगति से कर्मों के बंधन भी कट जाते हैं । सत्संग भगवान की स्मृति जागृत करता है, इसीलिये साधना में इसका अतुल्य महत्त्व है ।[1] साधु की संगति से कुमति नष्ट हो जाती है और भक्ति का आविर्भाव होने लगता है ।[2]

रसमार्ग के पथिकों के लिये "रसिक" जन का संग आवश्यक है । युगल प्रेम जिनका सहज स्वभाव बन गया है ऐसे लोगों का संग रस के अभिलाषी भक्तों के लिये अनिवार्य है । रस-रीति इतनी गहन और रहस्यमय है कि साधन(नेम)करके भी उसे बखान नहीं किया जा सकता । वह केवल प्रेम से ही गम्य है, और वह प्रेम रसिकों के संग से प्राप्त होता है । रसिकों के संग से चंचल मन का खोटा सोना प्रेम के स्वर्ण में परिवर्तित हो जाता है । रस के उद्बोधक एवं पोषण का साधन रसिकों का संग ही है ।[3]

१- जा दिन संत पाहुने आवत ।
तीरथ कोटि स्नान करैं फल जैसो दरसन पावत ।
नयौ नेह दिन-दिन प्रति उनकै चरन-कमल चित लावत ।
मन-बच कर्म और नहिं जानत, सुमिरत औ सुमिरावत ।
मिथ्यावाद-उपाधि-रहित ह्वै, बिमल-बिमल जस गावत ।
बंधन कर्म कठिन जे पहिले, सोऊ काटि बहावत ।
संगति रहै साधु की अनुदिन, भव-दुख दूरि नसावत ।
सूरदास संगति करि तिनकी, जे हरि-सुरति करावत।।३६०।। सूरसागर

२- गई कुमति लई साधु की संगति, भगत रूप भई सांची ।
गाय गाय हरि के गुन निसदिन, काल ब्याल सूं बांची ।।२६।।मीरांबाई की पदावली

३- मन गति पंगु सबनि की, सबका तिन आरंभ ।
पावत सबहीं आप भी , रसिकनि की करि संग ।।
ज्यों न रसिकनि संग भो, रंग्यो न मन रंग प्रेम ।
ताहि बिन पानी मरी, सींच सींच ते हेम ।।
है मन रसिकनि संग बिनु, रंग न उपजै प्रेम ।

II

भक्ति-साधना

विकास-क्रम :

भक्ति का संबंध हृदय से है, अन्तर्जीवन की नाना वृत्तियों का इष्ट के साथ भावात्मक संबंध से है, अतः उसके विकास की कोई सरणि नहीं बनाई जा सकती। हृदय को भक्तिभाव की ओर उत्प्रेरित करने में जिन साधनों का सहारा लिया जाता है उनमें से कुछ परम्परा से मान्य हैं, जैसे "नवधा" भक्ति। कृष्ण की भक्ति अनुराग-प्रधान है, बहुधा उसमें नवधा भक्ति का सांगोपांग निरूपण नहीं मिलता किन्तु कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में राग उत्पन्न होने के पूर्व उसका स्थान निश्चित रूप से स्वीकार किया गया है। राग भक्ति चाहे जिस भाव की हो वह चेतना की विकसित स्थिति की सूचक है। कृष्ण-प्रेम का पाना अत्यन्त दुरूह है, उसकी प्राप्ति के लिए नवधा भक्ति का आचरण आवश्यकता है[1]।

भक्ति के शास्त्रीय रूप का नाम नवधा भक्ति है। सामान्यतया यही भक्ति की जन्मदात्री समझी जाती है। इसी के साथ साथ, अथवा इसके अनन्तर कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में एक विशिष्ट पूजा-प्रणाली का विधान है जिसे "अष्ट प्रहर सेवा" कहा जाता है। नवधा भक्ति के प्रारम्भिक अंगों के आचरण द्वारा जब मन से सांसारिकता का आवेश कुछ क्षीण हो जाता है, हृदय में प्रभु का माहात्म्यज्ञान

१-(क):नवधा विधि ये सेइय सबकाल करि नेम।
   बिना याहि ठहरै नहीं गहरो प्यारो प्रेम ॥ [illegible] ॥ पुष्टबोधिनी पृ० ६८

(ख) साधनादि प्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः।
   प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः॥ जलभेद, श्लोक १०, षोडशग्रन्थ
   (वल्लभाचार्य)

(ग) ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।
   गुरु-कृष्णप्रसादे पाय भक्तिलताबीज॥
   माली हञा करे सेइ बीज आरोपण।
   श्रवण-कीर्तन जले करये सेचन॥
   उपजिया बाढ़े लता ब्रह्माण्ड भेदि याय।
   विरजा ब्रह्मलोक भेदि परव्योम पाय॥
   तबे याय तदुपरि गोलोक वृन्दावन।

इस प्रकार साधन भक्ति के द्वारा व्यक्ति की सामान्य मानस-चेतना में भक्ति का बीज बोया जाता है तथा सेवा द्वारा उसे अंकुरित एवं पल्लवित करने की चेष्टा की जाती है। मानसी सेवा के प्रतिफलित होने पर भक्त और भगवान का जो संबंध जुड़ता है, भक्ति की जो अवस्थाएं होती हैं उसका कोई निर्दिष्ट साधन नहीं है, उसके लिए भक्ति की कोई विधा सहायक नहीं हो पाती। यह इष्ट एवं भक्त के निरन्तर आदान-प्रदान की आन्तरिक भाव-दशा संबंधी कल्पनाओं के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। रागभक्ति उन्मुक्त प्रेम का निस्सीम आकाश है जिसके प्रतिफलन अदृश्य रूप रंग का ग्रहण आत्मा के पट पर ही संभव है, किसी निर्धारित प्रणाली से नहीं।

साधन-भक्ति

इसके नौ अंग सुप्रसिद्ध हैं -- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन। इनमें से दास्य और सख्य को कृष्णभक्तिरस के भावों के अन्तर्गत ग्रहण कर लिया गया। वास्तव में कृष्ण के प्रति आत्मनिवेदन से ही भाव-भक्ति आरम्भ होती है। निष्कामभाव से श्रवण कीर्तन आदि अंगों का सेवन भक्त के हृदय में भक्ति की भूमिका निर्मित करता है।

श्रवण- भगवान के नाम, गुण, रूप आदि के अलौकिक वर्णन के सुनने को श्रवण कहते हैं। यह श्रवण नाम एवं लीला दोनों का होता है। चैतन्य संप्रदाय में नाम श्रवण का अधिक महत्व है, वल्लभ आदि संप्रदायों में लीला का। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए नाम श्रवण सबसे बलवान साधन समझा जाता है। भक्ति भाव से सुना गया भगवन्नाम चित्तशुद्धि करने में जिस प्रकार समर्थ होता है उस प्रकार अन्य साधन नहीं। चित्तशुद्धि न होने से लीला श्रवण द्वारा रूप एवं लीला की उपयोगिता घटित नहीं हो पाती। भक्तिसंदर्भ में कहा गया है कि जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ही रूप उतरता है उसी प्रकार निर्मल चित्त अर्थात् भगवद्भिन्न विषयान्तर में आसक्ति-शून्य चित्त में भगवान के रूप के उदय की योग्यता आ जाती है। रूप के उदय होने पर भगवान के वात्सल्यादि गुणों की अनुभूति उत्पन्न होती है। नाम, रूप एवं गुण सहित भगवान तथा उनके परिकर की स्फूर्ति होने पर हृदय में लीला-स्फुरण की सम्यक् योग्यता आती है।[1]

१- भक्तिसंदर्भ, पृ० ३२

कृष्ण-कथा में मन का रमना सबसे आसान है क्योंकि इसके समान लीला की विविधता एवं ~~अनेकरूपता~~ अन्य अवतारों की कथा में नहीं है। श्रीकृष्ण का अतिमानवीय व्यक्तित्व-रूप विभिन्न भिन्न भिन्न रुचियों के लिए आकर्षक हो सकता है। चाहे उनकी उपासना पूर्णब्रह्म अविनाशी के रूप में की जाती रहे किंवा नंदनंदन कृष्णादि रूप में, उनके महान, भक्तवत्सल तथा रुचिर व्यक्तित्व के इतने विभिन्न पहलू हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि एवं संस्कार के अनुरूप उनमें से किसी एक या एक से अधिक के साथ अपना तादात्म्य पा लेता है। कृष्ण का रूप जितना आकर्षक है उतनी ही आकर्षक उनकी लीलाएं हैं, उनके अतिमानवीयता में भी एक मानवीय रस है अतः वह मानव-सुलभ बन जाते हैं। ब्रज के नाम से ही जो एक अपार श्रद्धा का अनिर्वचनीय स्वरूप का आतंक व्याप्त जाता है। वह कृष्ण के चरित्र में तिरोहित होने लगा। कृष्णावतार की लीलाओं में भक्त एवं भगवान के बीच की दूरी कम हो गई, कृष्ण-चरित्र प्रारम्भ से ही उस व्यवधान से दूर है। कृष्ण की कथा में एक विशेष रस है जो अनुरंजन के साथ सारा मन को बन्धन में तोड़ता ---- जाता है और उसे अपार्थिव सौंदर्य के आकर्षण में बांधता जाता है। इसीलिए कृष्णकथा भारतीय जीवन में इतनी लोकप्रिय हुई।

श्रवण का मनोविज्ञान यह है कि श्रोता और श्रव्य का तादात्म्य हो जाता है। ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय एक ही हैं, वैसे ही श्रवण श्रोता तथा श्रव्य के बीच तादात्म्य है। श्रवण से भगवान के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है, संशय छिन्न होता है, मस्तिष्क स्वच्छ होता है तथा संपूर्ण अस्तित्व भगवान के माहात्म्य से वशीभूत होता है। भगवान के भक्तवत्सल, अशरण-शरण, पतितपावन आदि गुणों का श्रवण करके भक्त के मन की निराशा घटती है, एवं उनके उद्धारक, सदा सहायक आदि रूप की कल्पना कर उनके प्रति सद् भावों से भावित होने की आकांक्षा जागरित होती है। रागानुगा भक्तों में कृष्ण की ब्रज लीला के श्रवण से उन भावों से तादात्म्य प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। साधारण जन के उद्धार श्रवण का पुण्य अघ-नाशक होता है।[1]

१- मिथ्या बाद-विवाद छाँड़ि दै, काम क्रोध मद लोभहिं परिहरि।
चरन-प्रताप आनि उर अंतर, और सकल सुख या सुख तरहरि।।
वेदनि कह्यौ, सुमृतिहूँ भाष्यौ, पावन-पतित नाम निज नरहरि।
जाकौ सुजस सुनत अरु गावत, जैहै पाप-वृंद भजि भरिहरि। सूरसागर, पदां० ३१२

(६) आत्मनिवेदन

उपरिलिखित आठ प्रकार के साधनों द्वारा जब चित्त में भगवान का स्वरूप उदित होता है तब उनके प्रति समर्पण की प्रेरणा उत्पन्न होती है। इस समर्पण के भाव को आत्मनिवेदन कहा गया है। आत्मनिवेदन अनुराग मूलक भक्ति का प्रधान कारण है। भक्त का कुछ भी अपना नहीं रह जाता, जब जो कुछ भी है उसके पास जो भी है सब उसके आराध्य में समर्पित हो जाता है। उसके सारे मनोराग, सारे संकल्प भगवान् को निवेदित हो जाते हैं। आत्मनिवेदन का उत्कृष्ट रूप मीराबाई में साकार हो गया है, वे अपने श्रीकृष्ण पर इतनी न्यौछावर हैं कि उनका समस्त क्रियाकलाप कृष्ण की ही इच्छा से परिचालित होता है। यदि कृष्ण उन्हें बेंच दें तो वह बिकने को भी तैयार हैं।[१]

प्रस्तुत पदावली में उत्कृष्ट आत्मनिवेदन का रूप परकीया राधा में चित्रित किया गया है। कृष्ण के प्रति अनुराग उत्पन्न होते ही, लाज लोकलाज, यौवन जीवन, सब कुछ को तिलांजलि देकर अपना समस्त व्यक्तित्व, अपना सारा मनोराग कृष्ण

देखें - का प्रीकुल, कोउ और कहावौ, ताहि के हुं रहिये ।
कैसों [illegible] कुल पावन प्रभु ताहें के कहु मो में कहावौ ।
तौ हौं अपनी फेरि सुधारौं, कहन एक जी चौसौ ।
हौरग्यो मन में और निबाहि छाँड़ि स्यामि की काँहे ।
सूरदास की यौं कहौ सुख, परत पावनि के पाहें ।। सूरसागर, विनय पद सं० १३६

१- जो पहिरावै सोई पहिरूं, जो दे सोई खाऊं ।
मेरी उनकी प्रीत पुराणी उण बिन पल न रहाऊं।
जहाँ बैठावैं तितही बैठूं, बेचै तो बिक जाऊं ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊं ।।

मीराबाई की पदावली, पद सं० १७ ।।

की गोप वेश की आतुर हैं एवं कृष्ण भी उन्हें स्वीकार करते हैं। किन्तु मीरा और राधा का समर्पण आकर्षणजन्य है, विधि मार्ग का नहीं। पुष्टिमार्गीय भक्ति आत्मनिवेदन की भावना से आरम्भ होती है। वल्लभसम्प्रदाय का दीक्षामंत्र ही आत्मनिवेदन की भावना से ओतप्रोत है। शिष्य स्त्री-पुत्र धन आदि देह गेह के सारे सम्बन्धों को गुरु की साक्षी में श्रीकृष्ण को निवेदित करता है, एवं अपने को श्रीकृष्ण का दास मात्र मानता है। दीक्षामंत्र का प्रकार है —

"श्रीकृष्णः शरणं मम। सहस्र परिवत्सरमित कालजात कृष्ण वियोग जनित ताप क्लेशानन्द तिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रिय प्राणान्तः करणानि तद्धर्मांश्च दारागार पुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि, दासोऽहं कृष्ण तवास्मि।"[1]

इस समर्पण के अनन्तर ही उसे तनुजा, वित्तजा आदि सेवाओं का अधिकार मिल पाता है। सेवा द्वारा, परिचर्या करते करते इष्टदेव का सान्निध्य प्राप्त होता है। दास्य भक्ति का समर्पण तत्व व्यक्ति की चेतना को विकसित करती है इष्ट के सान्निध्य एवं सम्पर्क के योग्य बनाती है।

दास्य भक्ति के परिचायक पद चैतन्य सम्प्रदाय के साहित्य में नहीं के बराबर हैं। सिद्धान्तरूप में स्वीकार्य होकर भी उसका परिपाक नहीं हुआ।

१- प्रभुदयाल मीतल - अष्टछाप परिचय, पृ० ६०

सेवा

सेवा नवधाभक्ति की अपेक्षा अधिक क्रियात्मक, साथ ही भावात्मक भी है। यह इष्टदेव के नाम एवं स्वरूप (श्रीमूर्ति) दोनों की होती है। नाम सेवा बहुत कुछ अमूर्त होने के कारण स्वरूप सेवा के सामने अधिक प्रमुख नहीं हो पाई। आरंभ में मन की समस्त वृत्तियों का, देह के समस्त धर्मों का परस्पर नाम में समाहित होना दुष्कर है। किन्तु स्वरूप के संबंध में यह कठिनाई कम हो जाती है। कृष्णभक्ति संप्रदायों में राधा कृष्ण के विग्रहों को मात्र मूर्ति न समझ कर उनके स्वरूप की अभिव्यक्ति समझा गया है, उनमें आराध्य की स्फूर्ति का बोध कर तन मन का पुलकित होना अधिक स्वाभाविक एवं सहज है।

स्वरूप सेवा का सांगोपांग वर्णन पुष्टिमार्ग में किया गया है। इस मार्ग के अनुसार सेवा तीन प्रकार की होती है — तनुजा, वित्तजा, मानसी। तन से की गई सेवा तनुजा कहलाती है, तन का अर्थ केवल देह के अंगों तक ही नहीं देहजनित संबंधों जैसे स्त्री पुत्र आदि का भी है। वित्त अर्थात् धन एवं द्रव्य से की गई सेवा वित्तजा कहलाती है। विशुद्ध भावपरक सेवा मानसी सेवा के नाम से अभिहित की गई है। वित्तजा सेवा के द्वारा सेवा में वैभव के साथ ही रोचकता का समावेश हो जाता है। वित्तजा सेवा को बाद में चाहे कितनी विडम्बना झेलनी पड़ी, विट्ठलनाथ जी के द्वारा इसके आयोजन का उद्देश्य महत था। अंतिम एवं सबसे अधिक महत्वपूर्ण सेवा है मानसी सेवा जिसमें मन की समस्त वृत्तियां कृष्ण में तन्मय हो जाती हैं। इस सेवा में भाव का निर्मल अर्घ्य, भाव का ही सुमन चढ़ता है, तथा भावना की ही आरती होती है। इस आराधक और आराध्य का भावात्मक संबंध सक्रिय हो जाता है। वृत्तियां पूर्णतया कृष्ण में लीन हो जाती हैं, भाव उनके सान्निध्य में विचरण करते हैं, कल्पना उनकी लीला की अनुभूति में परिणत होने लगती है। किन्तु भाव का यह उत्कर्ष सबसे अंत में या भगवान की कृपा से प्राप्त होता है। तनुजा वित्तजा सेवायें इस प्रकार की आभ्यन्तरिक सेवा की भूमिका के रूप में निभाई जा सकती हैं, नहीं भी, मात्र इष्ट का अनुग्रह इस भावभूमि का संचार करने में समर्थ हो सकता है, यदि व्यक्ति में पात्रता हो। पुष्प, दीप, नैवेद्य, भोग आदि तनुजा वित्तजा सेवाओं के उपकरण जिन मनोदशाओं के प्रतीक हैं वे आराध्य की कृपा से अनुग्रह प्राप्त भक्त में स्वतः प्रकट होने लगते हैं। धीरे धीरे आराध्य आराधक की यह दूरी भी मिटने लगती है और वे राधाकृष्ण की भांति परस्पर ओतप्रोत होने लगते हैं। किन्तु सभी के यह पूर्णकृपा साधना के आरंभ में प्राप्त नहीं होती और न

सब व्यक्तियों में इस कृपा की पात्रता होती है। अहंभाव की दृढ़ता तथा ममता की जटिलता मानसी-सेवा में बहुत बाधक होती है, अहंभाव के नाश की सुख भोग की कामना भी। इसलिए मानसी सेवा के पूर्व भक्ति के आकांक्षी व्यक्ति को क्रियाप्रधान तनुजा वित्तजा सेवाओं का आश्रय लेना अपेक्षित है। इससे संसार दुःख की निवृत्ति तथा ब्रह्म का बोध जागृत होता है[1]। मानसी सेवा सर्वसाध्य न होने से तनुजा वित्तजा सेवाओं का रूप अधिक स्पष्ट किया गया। इन सेवाओं के द्वारा अहंता ममता का नाश होता है, मन एवं इन्द्रियों का निग्रह साधित होता है। जब तक मन एवं इन्द्रियों का संयमन नहीं हो पाता तब तक मानसी सेवा की भावदशाओं की कल्पना भी असाध्य है। इसलिए मन एवं इन्द्रियों (तथा इनके द्वारा धन के माध्यम से भोगलिप्सा) के निरोध के लिए दिवस रात्रि चलने वाली अष्टप्रहर तनुजा सेवा का रागपूर्ण वातावरण निर्मित किया गया। मन तथा इन्द्रियों के 'निरोध' पर, अहंता तथा ममता के नाश पर ही यशोदा, गोपी तथा राधा कृष्ण की वह आनंद क्रीड़ा आविर्भूत होती है जो मानसी सेवा कहा गया है।

तनुजा वित्तजा सेवाओं के द्वारा सौंदर्यबोध की तृप्ति के साथ साथ आत्मचेतना का उन्नयन होता है, व्यक्ति की बहिर्मुखता अन्तर्मुखी होने लगती है। वस्तुतः तन मन इन्द्रियां हरि के सेवक हैं। जब वे अहं के सेवक बन जाते हैं तब परमात्मा से उनका संबंध-विच्छेद हो जाता है[2]। इस संबंध की पुनर्जागृति तनुजा वित्तजा सेवाओं का उद्देश्य है। कृष्ण में समर्पित होकर तन एवं वित्त से संपर्कित वस्तुओं से माया का संबंध, राजसिकता तथा तामसिकता का आवरण हट जाता है और वे ही वस्तुएं चिदानंद की आकार बन कर अनुभूत होने लगती हैं[3]। इन सेवाओं के द्वारा मनुष्य के दैनन्दिन चलने वाले अति सामान्य कार्यों को कृष्ण से संबद्ध कर दिव्यचेतना से संचालित करने का प्रयास किया गया।

१- चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ॥२॥ -सिद्धान्तमुक्तावली-षोडश ग्रंथ

२- स्वामी हरि परमात्मा तन मन इन्द्री दास ।
अहं बीट परसे नहीं रहे निरन्तर पास ॥३६॥ सुधर्मबोधिनी पृ० २६ ।

३- सबै सब छिन युगल वर सेवक सब नर नारि ।
गृह मन्दिर भण्डार धन रसानन्द आकारि ॥३२॥ सुधर्मबोधिनी, पृ० २३ ।

प्रवृत्ति से निवृत्तिमार्गी वैराग्य की प्रेरणा नहीं ली गई, अपितु उससे उपरामता दिला कर उसे निवृत्तिमय बनाया गया[1] क्योंकि बिना इस निवृत्ति किंवा निरोध के कृष्णरस के उपभोग की योग्यता नहीं आ पाती। जीवन के व्यसनों को कृष्ण की सेवा का व्यसन बना डालना स्वयं में उच्च साधना है, यह कार्य पुष्टिमार्ग ने अत्यन्त वास्तविक एवं सुलझे रूप में किया। प्रभु दयाल मीतल जी के शब्दों में: "नित्य और वर्षोत्सव दोनों प्रकार की सेवा-विधियों के तीन अंग मुख्य हैं -- श्रृंगार, भोग, राग। प्रत्येक व्यक्ति इन तीनों सांसारिक विषयों में फंसा हुआ है। इससे छुटकारा पाने के लिए श्री वल्लभाचार्य जी ने इनको भगवान की सेवा में लगा दिया है। उनका मत है कि इनको भगवल्लीला में लगाने से ये व्यसन भी भगवद्रूप हो जावेंगे[2]।"

राधावल्लभ संप्रदाय में भी सेवा दो प्रकार की मानी गई है, प्रकट तथा अप्रकट। प्रगट सेवा तन मन धन (तनुजा वित्तजा) के समर्पण से की जाती है और अप्रकट सेवा अंतरंग प्रेम से। बिना प्रकट सेवा के अप्रकट सेवा नहीं हो सकती क्योंकि वह प्रेम के सुदृढ़ होने पर ही संभव है और यह प्रेम प्रकट सेवा द्वारा पनपता तथा दृढ़ होता है[3]। अप्रकट किंवा मानसी सेवा अखण्ड अबाध रस में मग्न होने पर होती है। देशकाल में बद्ध-चित्त को उस अनन्त अप्रतिहत रस तक पहुंचाने के लिए अष्टप्रहर सेवा का विधान किया गया है। जब अंतरंग सच्चिदानंद प्रकट हो जाता है तब इन बाह्य सेवाओं की अनिवार्यता जाती रहती है। इस आन्तरिक रस के लिये ही बाह्य पूजा-अर्चा का आयोजन होता है। अप्रकटलीला में मन के तल्लीन होने पर देश और काल की बाधायें विनष्ट हो जाती हैं, तब रह जाता है शाश्वत अनादि रस[4]।

१- संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
   कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्॥१२॥ निरोधलक्षण-षोडशग्रंथ।

२- अष्टछाप- परिचय, पृ० ५७।

३- गौर श्याम सहचरि विपिन प्रगट अप्रगट विचार।
   अंतरंग हित चित सुदृढ़ प्रगट सुतन धन सार॥१०२॥
   प्रगट भाव की नींव दृढ़ कीजे कृपा मनाइ।
   तब निश्चल हित महल रस रहै चित ठहरार॥१०४॥
   प्रगट भाव सेवा बिना चित न आवै प्रेम।
   प्रेम बिना दरसै नहीं नित्य केलि वन नेम॥१०८॥ सुधर्मबोधिनी, पृ०५०॥

४- समय समय सेवा प्रगट श्रीराधावल्लभ लाल।
   अन्तरंग रस मगन चित तहां नहीं गति काल॥२५॥ ,, पृ० ३।

नैमित्तिक सेवा के अन्तर्गत वार्षिकोत्सव स्वीकृत हैं। किन्तु विभिन्न संप्रदायों के वार्षिकोत्सव विविध होने के कारण विस्तार भय से यहाँ सब में समान रूप से प्रचलित अष्टप्रहर नित्य सेवा का ही विवेचन किया जा रहा है।

ब्रज के संप्रदायों में अष्टप्रहर सेवा प्रायः इस क्रम से चलती है- मंगला, शृंगार, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या आरती एवं शयन। वल्लभ संप्रदाय में राजभोग के पूर्व ग्वाल की प्रथा है क्योंकि उसकी सेवा प्रणाली कृष्ण के वात्सल्य एवं सख्य भाव को लेकर चली है। शेष दोनों संप्रदायों में प्रायः समानता है, हरिदास जी की निजी कोई सेवा प्रणाली नहीं मिलती।

इनमें से वल्लभसंप्रदाय की भावना बाल एवं पौगंड की है, अतः उसमें अन्य संप्रदायों की सेवाभावना से पृथक अपना वैशिष्ट्य है। चैतन्य संप्रदाय, निम्बार्क एवं राधावल्लभी संप्रदायों में शृंगार रस ही मान्य है और उसी के अनुरूप सेवा का विधान किया गया है।

विभिन्न संप्रदायों की अष्टप्रहर सेवाओं में सूक्ष्म अन्तर है इसलिए प्रत्येक संप्रदाय की सेवाभावना का यहाँ पर पृथक पृथक विवेचन किया गया है।

राधावल्लभ संप्रदाय में अष्टयाम सेवा

यद्यपि इस संप्रदाय में याम के अष्टप्रहर कहे गये हैं किन्तु विवरण सात प्रकार की सेवाओं का ही मिलता है। वे हैं — मंगला, शृंगार, राजभोग, उत्थापन, संध्या, शयन, शैय्या समय।

१- मंगला

दो घड़ी रात्रि रहे और दो घड़ी दिन चढ़े तक मंगला का समय होता है। इस सेवा में भक्त स्नानादि से निवृत्त होकर मंदिर का परिमार्जन करता है। उसके पश्चात् राधिका जी को शयन से जगाया जाता है और उनका मुख प्रक्षालन करवा कर उनके सम्मुख प्रातःकालीन कलेवा उपस्थित किया जाता है। जागरण में सुन्दर पदों के पाठ की प्रथा है[1]। कलेवा किंवा मंगला भोग के साथ आरती भी की जाती है।

१- 'जागी री भई भोर बड़ी।
अलबेली खेली पिय के संग अलक लड़ै झाड़ लड़ी।।
तरनि किरन रन्ध्रन ह्वै आई लगी है निवाई आनि मुकर बर तमा ली हूं लै रही
हितहरिवंश रति को कवि बरनै जो छवि मो मन मांझ अड़ी।।१२।।
'मंगला के पद' प्रकाशक : बाबा तुलसीदास।

इस कार्यक्रम के अनन्तर राधा को प्रातःकालीन भ्रमण के लिए सखियाँ ले जाती हैं। भ्रमण में राधा का आपादमस्तक-शृंगार होता है, फूलों का चयन तथा कन्दुक क्रीड़ा आदि लीलाएं होती हैं।

२- <u>शृंगार</u>

मंगला के अन्त से और बारह घड़ी दिन के चढ़ने तक शृंगार का समय माना गया है। शृंगार समय के आरंभ होने पर श्री राधिका पुष्पवाटिका में वाटिका का सौंदर्य देखने जाती हैं।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है शृंगार में राधा का शृंगार किया जाता है। स्नान कुंज में उनको उबटन आदि लगाकर स्नान कराया जाता है। तदनन्तर वस्त्रविन्यास, शृंगार, तिलक आदि से राधा के अंगों को सुशोभित किया जाता है।[१] शृंगार में राधा के मस्तक पर चंद्रिका और कृष्ण के शीश पर शिखिपिच्छ, कलंगी तथा सिरपेंच को धारण कराना चाहिए। पूर्णिमा तथा एकादशी को ही मुकुट पहनाया जाता है, प्रातः राधा को, सायं कृष्ण को।

इस वेश-विन्यास के बाद धूप आरती की जाती है। फिर भोग निवेदित किया जाता है जिसमें भाँति भाँति के मिष्ठान्न आदि का विधान है। इस समय सखियाँ कुछ क्रीड़ा कौतुक का आयोजन भी करती हैं, कोई नृत्य करती है, कोई गान, कोई राधा को उनकी सौंदर्य मंजूषा का भान कराने के लिए दर्पण दिखाती है तो कोई सखी उन्हें कुछ उपहार देती है। इस रागोत्सव के उपरान्त फिर उनकी आरती की जाती है जिसे शृंगार आरती कहते हैं।

मंगला एवं शृंगार के कार्यक्रम में पहिले वंशी, तत्पश्चात् श्री राधिका फिर श्रीकृष्ण की सेवा की जाती है। यह क्रम निभाना आवश्यक है। इससे संप्रदाय की भावना व्यक्त होती है अर्थात् वंशी के अवतार आचार्य हितहरिवंश (जिनका सखी स्वरूप) की वंदना सर्वप्रथम होनी चाहिए, फिर उनके प्रसाद से आराध्या राधा एवं कृष्ण का स्वरूप समझना चाहिए।

१- काहू सखी सहस जल आन्यौ। काहू गौरि उबटनौ सान्यौ ।।१०५।।
एक फुलेल अरगजा ल्याई। टहल केलि सब फिरत हैं धाई ।।१०६।।
दंपति सुख के रस में भीनी। छिन छिन तिन की प्रीति नवीनी ।।१०७।।

रसमुक्तावली लीला, पृ० १५३ :ब्यालीसलीला- ध्रुवदास:

३-राजभोग

दिन के बारह घड़ी बीत जाने पर तथा दिवस अवसान की छः घड़ी शेष रहने तक राजभोग का समय निश्चित किया गया है। दोपहर का भोजन तथा उसके पश्चात् आराम राजभोग समय के अन्तर्गत आता है। राजभोग में भोजन की प्रधानता है जिसमें नाना प्रकार का व्यंजन राधाकृष्ण के सामने प्रस्तुत किया जाता है। चंपकलता रुचि पूर्वक उन्हें जिमाती है, एवं ललिता बातों से मनोरंजन करती है[1]। भोजन कराने के बाद चौपड़ आदि क्रीड़ाएं होती हैं तत्पश्चात् विश्राम के लिए शयन। इसके पूर्व राजभोग की आरती होती है जिसमें सखियों का भावात्मक रूप दृष्टव्य है[2]।

४- उत्थापन

दिन के पिछले छः प्रहर से सायंकाल तक संध्या का समय है।

उत्थापन में राधाकृष्ण को विश्राम से उठाया जाता है। वाद्यंत्रों से उनकी तंद्रा भंग की जाती है और जग जाने पर मुख धुलवाकर एक हल्का-सा भोजन भी करवाया जाता है। उत्थापन में भी धूप आरती होती है।

इसके उपरान्त राधाकृष्ण वनविहार के लिए सखियों सहित प्रस्थान करते हैं[3]। यमुना के तट पर वन की अमराइयों में विचरण करते हुये, उनके पुष्प-चयन, नौका-विहार, आदि लीलाओं की भावना की जाती है। सखियां अपने नृत्य गान से युगलप्रभु को

१- मनिमय चौकी राखी आन। तिहधारि तापर धर्यो थानि।११६।
झलकिहैं बहु कनक कटोरा। विंजन भरि भरि धरे चहुं ओरा।११७।
. . . .
यौं विंजन कर पल्लवनि, जुवा कमीली बाल।
तहाँ ते रुचिका लेत हैं, नवल रंगीले लाल।।१२७।।
चंपक लता चौंप सौं ज्यावैं। ललिता बातनि रुचि उपजावै।१२८।
पीत भात मिलरस गाढ़ी। ग्रास लेत अतिही रुचि बाढ़ी।।१२९।
रसमुक्तावली लीला पृ०१५४-५५: ब्यालीस लीला-ध्रुवदास

२- नैन दीप किय थार भरि, पुरि प्रेम घृत ताहि।
तीन तिलके करनि सौं, आरति करत उमाहि।।१३८।। वही पृ० १५५।

३- कबहिं घरी चार दिन रह्यौ, प्रीतम प्रान पियासौं कह्यौ।१४७।
चलहु कुंवरि देखें बनराई, फूलन सोभा कही न जाई।१४८।
फूली लता बड़ी तरु छाहीं, झूमि रही जमुना जल माहीं।१४९।
सिमटी आइ सबै सिखकारी, एक बेस अतिहीं सुकुंवारी।।१५०। वही, पृ०१५६।

आमोदित करती हैं[1]।

आरती के अनन्तर क्रमानुसार कुछ विशिष्ट पदों का गान होता है।

५- <u>भोग</u>

वनविहार से लौटने पर सायंकाल का भोग अर्पित किया जाता है। कई प्रकार की मिठाइयों का यह स्वल्प भोजन 'भोग' कहा जाता है[2]। इस भोग के उपरान्त कुछ पदों का गान होता है, तत्पश्चात् संध्या आरती ।

संध्या आरती के बाद रासलीला होती है जिसमें गायन-वादन, नृत्य, संगीत के तीनों अंगों का होना आवश्यक है[3]।

६- <u>शयन</u>

संध्या समय के छः घड़ी रात्रि बीतने से आठ घड़ी रात्रि तक शयन का समय है क्योंकि आठ घड़ी रात्रि से शृंगार का समय आरंभ होता है।

१- सखी संग बहुं ओर सुहाई, निरखत फूली अंगनि माई ॥१६३॥

एक सारंगी बीन सुनावै, एक मृदंग अनूप बजावै ।१६४।

निरप लैत फलकत मन तैसे, बहुत रंग की दामिन जैसे ॥१६५॥

रसमुक्तावली लीला: [illegible]

राग रागिनी मूरति धारें, सखी रूप सेवत सुखकारें ॥१६६॥ ,, ,, पृ० १५६ ॥

२- अद्भुत मीठे मधुर फल, ल्यावै सखी बनाय ।

ख्वावत प्यारे लाल कौं, पहिले प्रिया जनाय ॥१६८॥ वही पृ० १५७ ।

३- खेलत रास दुलहिनी दूलहु ।

सुनहु न सखी सहित ललितादिक निरखि-निरखि नैननि किन फूलहु ।

अति कल मधुर महा मोहन धुनि उपजत हंस सुता के कूलहु ।

थेईथेई वचन मिथुन मुख निसरत सुनि-सुनि देह दशा किन भूलहु ॥

मृदु पदन्यास उठत कुंकुम रज अद्भुत बहत समीर दुकूलहु ।

कबहुं श्याम श्यामा दसनांचल कच कुच हार छुवत भुज मूलहु ॥

अति लावण्य रूप अभिनय गुन नाहिन कोटि काम समतूलहु ।

भृकुटि विलास हास रस बरषत हितहरिवंश प्रेम रस झूलहु ॥

हितचतुरासी पद सं० ६२ ॥

के अन्तर्गत नहीं आते , ये नितान्त आभ्यन्तरिक है । सेवा प्रणाली का निरूपण 'सेवासुख' के अन्तर्गत ही किया गया है ।

इस संप्रदाय में अष्टप्रहर सेवा स्वामियों की वंदना के पश्चात् गुरुरूप सखी की कृपा का उद्बोधन कर, सखी भाव से आरंभ की जाती है ।

१- <u>मंगला</u>

रात्रि के निकुंज सुख रस में राधाकृष्ण निमग्न रहते हैं वह आलस्याधीन है । उस रस के प्रभाव से शिथिल उन्हें समय, घड़ी पल का ध्यान नहीं रहता । सखियां उनकी इस पारस्परिक आसक्ति को कृतकृत्य भाव से निरखती हुई सेवा आरम्भ करती हैं । एक मीठी चुटकी के साथ उन्हें जगाया जाता है :

" आरस भरिये जाउं बलि लखि मुरली मौन ।
त्यों त्यों पौढ़त तानि पट आनि परी गम कौन ।।१३।।[2]

सहचरियों के प्रिय वचनों को सुनकर राधा उठती हैं । फिर मंगला की स्तुति गायी जाती है । स्तुति से राधा का रूप तो स्पष्ट होता ही है, उनकी महत्ता, उनके आनंद की पराकाष्ठा(आल्हाद की निगूढ़) होने का बोध भी जगाया जाता है । फिर दोनों अलबेले आंगन में खड़े होते हैं और उन्हें उनके शिथिल अस्तव्यस्त रूप का भान कराने के लिए दर्पण दिखलाया जाता है ।

इस प्रकार दिन का कार्यक्रम युगल-स्वरूप की प्रतिष्ठा के साथ आरम्भ होता है । मुखशोध करवा कर उन्हें मंगलभोग कराया जाता है । अनन्तर उनके सिंहासन पर विराजमान युगलमूर्ति की मंगला आरती की जाती है । मंगलकुंज में मंगलआरती के प्रकाश में

१-जय जय श्री हितु सहचरि भरी प्रेम-रस रंग ।
प्यारी -प्रीतम के सदा रहति जु अनुदिन संग।।१।।
अष्टकाल बरनन करौं तिनकी कृपा मनाय ।
महावाणी सेवा जु सुख अनुक्रमते दरसाय।।२।।
सखीनामरत्नावली स्तोत्र पाठ सहं कीज ।
पुनि गुरुसखिन कृपा जु लहि जुगलकेलि चित दीज।।३।।
प्रातकालही उठिके धारि सखी को भाव ।
आय मिलि निज रूपसों याको यहि उपाय।।४।।सेवासुख पृ०२४:महावाणी:
२- सेवा सुख ,पद सं 13 (महावाणी)।

सखियां राधाकृष्ण के मंगलमय मुखारविंद का दर्शन कर उस अलौकिक छवि को हृदय में धारण करती हैं। इस आरती में भावात्मक उपकरणों का विधान है। संपूर्ण सात्विकता से थाल को सजाकर सखियां यह आरती उतारती हैं। स्नेह भाव के थाल में रति का घृत, ज्योति तथा वर्तिका, तन मन की मुक्ता चौक युगलकिशोर की आरती के अभिष्ट उपकरण हैं।[1] सर्वस्व समर्पण ही इस आरती में ज्योति जलाता है।

२- शृंगार

मंगला आरती के पश्चात् सखियां आराध्य को कुंज में स्नान के लिए ले जाती हैं। मणिपीठों पर आसीन करके उन्हें सुगन्ध का परिलेपन कर सुरभित नीर से नहलाया जाता है। नहलाने के बाद सुन्दर वस्त्र धारण करवाया जाता है। तब उनका सुचारु शृंगार किया जाता है। प्रत्येक क्रियाकलाप का कुंज पृथक पृथक है, अतः शृंगार के लिए 'शृंगारकुंज' स्नान कुंज से पृथक है। इस कुंज में राधाकृष्ण एक दूसरे का नखशिख शृंगार करते हैं। रंगबिरंगे आभरण धारण करते हैं। शृंगार हो चुकने के बाद उन्हें शृंगार-भोग[2] अर्पित किया जाता है। कृष्ण राधा का मनुहार करते हुए उन्हें भोग देते हैं। भोग लगा कर सखियां दोनों को आचमन करवाती हैं तथा पान खिलाकर रोली का तिलक लगाती हैं। अन्त में आरती दीप सहित शृंगार-आरती की जाती है।

३- वन-विहार

इस आरती के हो जाने पर राधाकृष्ण कुंजों में विहार करते निकलते हैं।[3]

१- प्रिय मे थाल भाव लिये धारा।
रति घृत ज्योति रु बाति विचारा।
तन मन मुक्ता चौक पुरावे।
आरति अभिष्ट अमिट प्रभावे ।। ३६ ।। युगल-शतक: श्रीभट्ट

२- मिलि भोजन स्यामा स्याम करत कर गहना रस बतियां करैं।
पीय कहत पिलु हाथ जिमाऊं इतनौं जु फल पाऊं देह धरैं ।।टेक।
करत छिन नैननि सौं भोजन आनन सुधाकर पान करैं।
श्रीभट नैन की घाटी अटपटी नैन क नैननि सौं पयां परैं ।।४१।। युगल-शतक: श्रीभट्ट:

३- यह सुख दै सब सखिन को सब सुरत रसलीन।
कुंजन कुंजन विहरहीं नित इच्छा आधीन ।। ३१।।
सेवा सुख - महावाणी

यों वनविहार को राधावल्लभ संप्रदाय में शृंगार के अन्तर्गत भी लिया गया है किन्तु शृंगार से इसकी भावना पृथक होने के कारण इसे स्वतंत्र सेवा क्रम में रखना अधिक समीचीन जान पड़ता है क्योंकि वात्सल्यभाव की उपासना में जो समय ग्वालों का होता है वही समय युगल-उपासना में वनविहार का होता है। शृंगार आरती करवाकर हृदय में उमंग भरे हुए श्यामा-श्याम कुंज की छायादार वीथियां नापने लगते हैं। कुंज कुंज में विचरण करते हुए प्रत्येक वस्तु में प्रेम का संचार करते हैं :

"कुंज बिहारी कुंजबिहारिनि कुंजबिहार बिहारें री ।
रंगदास दरसति यमुनादिक रमत सुरुचि अनुसारें री ।
कुसुम कुंज को कुसुम लै लै पी पी अनु प्रतिपारें री ।
फल फूल चल दल विटपन में भोलारसिप्रिया संचारें री ।[1]

४-राजभोग

वनविहार करके राधाकृष्ण भोजनकुंज में जाते हैं जहां पर विधिपूर्वक आसन पर बिठाकर सखियां उन्हें मनभाये व्यंजन परोसती हैं और वे रुचिपूर्वक उन्हें खाते हैं। राजभोग में जब कृष्ण राधा को ममत्व से खिलाते हैं तब सखियों में विनोदपूर्ण आह्लाद का भाव संचरित होता है। मध्याह्न के इस भोजन में लेह्य, चोष्य, भक्ष्य भोज्य किसी प्रकार का व्यंजन नहीं छूटता। भक्त अपनी रसनेन्द्रिय की समस्त लिप्सा को राधाकृष्ण के "भोग" के रूप में समर्पित करके उनसे उपराम होने की चेष्टा करता है।[2] यह अन्नमय कोश को आनंदमय कोश तक पहुंचाने का उपक्रम है।

राजभोग के पश्चात् आचमन करवाया जाता है और "बीड़ी" प्रदान की जाती हैं। फिर राजभोग की आरती होती है। राजभोग का समय दिन का मध्यकाल होता है। इस भोग के बाद राधाकृष्ण, सुमन के पर्यंक पर विश्राम करते हैं। इस विश्राम में कहीं कहीं रतिकेलि भी वर्णित है।

१- महावाणी - सेवासुख पद सं० ३२ ।

२-छपन छतीसों रस करौं, चतुरविधा बहु पुंज ।
नंद नंदन वृषभानुजा, भोजन करत निकुंज ।। ४२।
युगलशतक: श्रीभट्ट: ।।

५- उत्थापन

विश्राम के अनन्तर उत्थापन का समय होता है। उत्थापन भोग में विविध प्रकार की मेवा-मिठाइयाँ अर्पित की जाती हैं। स्वर्णथाल में प्रत्येक ऋतु की सामग्री प्रस्तुत की जाती है। सखियाँ भाँति भाँति से राधाकृष्ण की सेवा में लगी रहती हैं, कोई चँवर डुलाता है, कोई मोरछल, कोई झारी लिए खड़ा रहता है और कोई मुकुर।

उत्थापन भोग करके राधाकृष्ण फुलवारी का आनंद लेने जाते हैं। वहाँ सखियाँ उनकी आरती करती हैं एवं स्तुति गाती हैं। स्तुति में राधा का प्राधान्य रहता है यद्यपि कृष्ण की भी वंदना साथ में रहती है।

"परमभिसारनिवर्तिनी श्यामा मधुमदेति ।
रतिकुसुमतल्पनि राधिके जय नवनीरजनेत्रि ।।५२।।
. . . .
श्यामानुरागदिनि अतिप्रियवादिनि जय जनमादिनि श्रीराधे ।
जय जय हीरा नवनीलमणि कुमणिहीरा श्रीकृष्ण ।।५३।।[1]

६- संध्या

संध्या वंदना के समय संगीत का समारोह जमता है। मधुरा सखी मधुर मृदंग बजाती है, अनुरागिनी नामा सखी रागरागिनी छेड़ती है, सप्तस्वरों में तान मींड़ मूर्छना ग्राम आदि संगीत की बारीकियों का प्रदर्शन करती है। नृत्यक सखी उरप-तिरप, लाग-डाट, सरस्वभेद आदि नृत्य संबंधी भंगिमाएं दिखलाती हैं। इस प्रकार सारी सखियाँ मिल कर राधाकृष्ण को हुलसित करती हैं।

इस समारोह के उपरान्त राधाकृष्ण निकुंज में पधारते हैं और वहाँ केलि में रत होते हैं। कुंज में भी एक सिंहासन पर युगलमूर्ति विराजमान होती हैं, सखियाँ युगल-छवि का पान करती हुई आत्मविभोर होती हैं।

चार घड़ी रात्रि बीतने पर वे सदन लौटते हैं वहाँ उन्हें ब्यारू करवाया जाता है। फिर, शयन का समय जान कर उनकी आरती की जाती है।

१- महावाणी - सेवासुख, पृ. ३६-४०।

५- उत्थापन

विश्राम के अनन्तर उत्थापन का समय होता है। उत्थापन भोग में विविध प्रकार की मेवा-मिठाइयां अर्पित की जाती हैं। स्वर्णथाल में प्रत्येक ऋतु की सामग्री प्रस्तुत की जाती है। सखियां भांति भांति से राधाकृष्ण की सेवा में लगी रहती हैं, कोई चंवर डुलाता है, कोई मोरछल, कोई झारी लिए खड़ा रहता है और कोई मुकुर।

उत्थापन भोग करके राधाकृष्ण फुलवारी का आनंद लेने जाते हैं। वहां सखियां उनकी आरती करती हैं एवं स्तुति गाती हैं। स्तुति में राधा का प्राधान्य रहता है यद्यपि कृष्ण की भी वंदना साथ में रहती है।

"परम विहार विवर्द्धिनी श्यामा सखसुखदैनि।

रसिकमुकुटमनि राधिके जय मनमोहनि रैनि ॥५२॥

. . . .

श्यामाकुलानंदिनि अतिप्रियमानंदिनि उर उनमादिनि श्रीराधे।

जय जय होतो रूपालीमा सुभगताठौना श्रीकृष्ण ॥५३॥[1]

६- संध्या

संध्या वंदना के समय संगीत का समारोह जमता है। मधुरा सखी मधुर मृदंग बजाती है, अनुरागिनी नामा सखी रागरागिनी छेड़ती है, सप्तस्वरों में तान मींड़ मूर्च्छना ग्राम आदि संगीत की बारीकियों का प्रदर्शन करती है। नृत्यक सखी उरप-तिरप, ठाम-ठाट, हस्तभेद आदि नृत्य संबंधी मुद्रायें दिखलाती हैं। इस प्रकार सारी सखियां मिल कर राधाकृष्ण को हुलसित करती हैं।

इस समारोह के उपरान्त राधाकृष्ण निकुंज में पधारते हैं और वहां केलि में रत होते हैं। कुंज में एक सिंहासन पर युगलमूर्ति विराजमान होती हैं, सखियां युगल-छवि का पान करती हुई आत्मविभोर होती हैं।

चार घड़ी रात्रि बीतने पर वे सदन लौटते हैं वहां उन्हें व्यारू करवाया जाता है। फिर, शयन का समय जान कर उनकी आरती की जाती है।

१-महावाणी - सेवासुख, पृ. ३६-४०।

७- शयन

शयन के समय सखियाँ शैया रच देती हैं तब उनके आराध्य की प्रेमालसमयी पलकें लग जाती हैं। वे निद्रित राधाकृष्ण के चरण सखियाँ दबाती रहती हैं, या चंवर डुलाती हैं, इस स्थल पर सखियों की कोमल भावना दृष्टव्य है। कुछ देर बाद उन्हें सोया देख पट बंद कर बाहर चली जाती हैं और रन्ध्रों से युगल की रूपमाधुरी का पान करती हुई धीमें स्वर में उनका गुणगान करती रहती हैं।

अर्धरात्रि में जब छः घड़ी रह जाती है तब सखियाँ आकर राधाकृष्ण को जगाती हैं। उन्हें रासस्थली ले जाया जाता है जहाँ पर रास का आयोजन होता है[2]। रास के पश्चात् राधाकृष्ण का श्रृंगार किया जाता है।

८- शैया

तत्पश्चात् वे शैया पर विराजते हैं और विविध विलास में निमग्न होते हैं। सखियाँ उनका गुणगान करती रहती हैं।

अर्धनिशा होने पर कृष्ण राधा से सोने का अनुरोध करते हैं। इस समय से प्रातः मंगला तक दोनों सुखनिद्रा में निमग्न हो जाते हैं।

वस्तुतः शैया 'शयन' का ही एक अंग है किन्तु प्रहर-भेद के कारण इसका अपना अलग रखा गया है। इस प्रकार निम्बार्कीय अष्टप्रहर सेवा का निर्वाह होता है।

गौड़ीय सम्प्रदाय :

इस संप्रदाय की अष्टप्रहर सेवा प्रणाली में राधा के परकीया होने के कारण भावुकता तथा रोचकता है। अष्टकालीय नित्य लीला का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से

१- मोहन लाल चंवर लै ढारौं।
कबहुँक लैउँ चरन नैननि में नवतम नेह सुधारस धारौं ।। टेक।।
कबहुँक पद-पल्लव राधे के अपने नैन-नलीन निहारौं।
कबहुँक श्रीमद् नंदलाल के कोमल चरन कमल पुचकारौं।।५०।।युगलशतक : श्रीभट्ट:

२- नाचत नवल नागर रसिक रासरंग।
वृन्दावन पुलिनथल कल्पतरुतलविमल पंकजमंडलमसदल अंगौं।।
रुनुझुननूपुरमय झनकझनक झुनुनु झुनुनु किंकिनिकलित कटि सुधंगौं।
चरन की धरन उच्चरनसप्तस्वरन गरनमन न करन उर उमंगौं।।७२।।सेवासुख- घनानन्द।

हैं:

१- निशान्त लीला

२- पूर्वाह्न लीला

३- मध्याह्न लीला

४- अपराह्न लीला

५- प्रदोष लीला

६- रात्रि लीला

७- नक्तनिद्रा लीला

शास्त्र के अनुसार निशान्त, प्रातः, पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, सायं, प्रदोष एवं रात्रि- ये आठ काल हैं। पूर्वोक्त कालविभाजन में प्रातः एवं सायं केवल दो पारिभाषिक कालभेद रहने पर भी लौकिक कालविभाग से इस कालविभाग के अलग होने के कारण तथा प्रातर्लीला के साथ पूर्वाह्न लीला, सायं के साथ प्रदोष लीला और नक्त-निद्रा के साथ रात्रि लीला के अभेद होने पर भी, निकुंजगत व स्वगत परिष्ट भेद के कारण, पदकल्पतरु के पद-संग्रहकर्ता ने काल के उक्त आठ भेदों को माना है।[1]

चैतन्य संप्रदाय की सेवा प्रणाली में लीलाओं की विभिन्नता दृष्टव्य है। राधा-कृष्ण के अनुरागमय मिलन में मित्रों, विशेषकर सखियों की चाटु उक्तियों की लीलायें अपना विशेष महत्व रखती हैं।

उपर्युक्त काल-विभाजन के अन्तर्गत निम्नलिखित लीलायें मानी गयी हैं। इस संप्रदाय में सर्वत्र सूक्ष्म विश्लेषण की प्रवृत्ति दीखती है।

१- निशान्त लीला

राधा का स्वालस, राधाकृष्ण का सालस, राधाकृष्ण का निद्राभंग, श्रीकृष्ण के प्रति ललिता का परिहास, श्रीकृष्ण का प्रत्युत्तर, पुनः सखी की उक्ति, ललिता का कौशल, श्रीकृष्ण कर्तृक राधा की वेश रचना, गृहागमन उचित विचारों में श्रीराधाकृष्ण की व्याकुलता, वृन्दा के कौशल से राधाकृष्ण का स्वगृह गमन।

२- पूर्वाह्न लीला

जागरण, श्रीराधा के प्रति भगवती पौर्णमासी की परिहासोक्ति, ललिता का प्रत्युत्तर, दासियों का गृहकार्यसम्पादन, श्रीराधा का स्नान, शृंगार, श्रीराधा से

१- पदकल्पतरु - चतुर्थखण्ड, पृ० १२८।

रजनी-विलास के अंक में सखियों की प्रभातालि, श्रीराधा का सोद्गार, अनुराग-श्रीराधा का अनुराग, सखियों द्वारा श्रीराधा की भेदकथा, जागरण-यशोदा द्वारा श्रीकृष्ण का जागरण, गुजरियों का नन्दगृह में आगमन, श्रीकृष्ण का गोदोहन, नन्दालय में खाना पकाने के लिए श्रीराधा का लाया जाना, श्री राधा का रन्धन, सखाओं के साथ श्रीकृष्ण का गोष्ठ प्रत्यागमन व भोजनलीला, सखियों के साथ राधा का भोजन, यशोदा द्वारा श्री राधा की वेशरचना -- गोष्ठ-- यशोदा द्वारा श्रीकृष्ण की गोष्ठ-सज्जा, सखाओं के साथ श्रीकृष्ण का गोष्ठ-गमन, यशोदा के आदेश पर कुन्दलता के साथ श्रीराधा का स्वगृह गमन, श्रीराधा व सखी द्वारा जटिला की मनस्तुष्टि, जटिला के आदेश से सखियों के साथ श्रीराधा का सूर्यपूजा के छल से अभिसार।

३- <u>मध्याह्नलीला</u>

मध्याह्न अभिसार-सखियों के साथ राधा का अभिसार, राधाकृष्ण का मिलन, राधा-कृष्ण की होली (होल) राधाकृष्ण की झूलन लीला, मधुपान --श्रीकृष्ण राधा का वनभ्रमण व पुष्पचयन, श्रीराधा द्वारा कौतुक छल से मुरलीहरण, श्रीकृष्ण से राधा व सखियों का रहस्योद्घाटन, कृष्ण का अनुनय व खेद, राधा द्वारा मुरली प्रदान, श्रीराधा का प्रेमवैचित्त्य, मधुपान-- राधाकृष्ण की मधुपान लीला, श्रीराधाकृष्ण की रतिक्रीड़ा, जलक्रीड़ा- सखियों सहित श्रीराधाकृष्ण की जलक्रीड़ा, मधुमंगल व सुबल के साथ श्रीकृष्ण का भोजन, श्रीराधाकृष्ण का विश्राम, शुकसारिका द्वारा राधाकृष्ण का रूप गुण वर्णन, पाशक्रीड़ा--राधाकृष्ण की पाशक्रीड़ा व हास परिहास, जटिला के आगमन पर सखियों सहित राधा का सूर्य-मन्दिर में आना, विप्रवेश में श्रीकृष्ण का वहां आना व राधा द्वारा पौरोहित्य करना, सूर्यपूजा के अन्त में सखियों सहित श्रीराधा का गृहगमन, श्रीकृष्ण के विच्छेद में श्रीराधा की व्याकुलता एवं सखियों द्वारा सान्त्वना।

४- <u>अपराह्न लीला</u>

उत्तरगोष्ठ। श्रीराधा का अपने गृह में श्रीकृष्ण के लिए पकवान बनाना व स्नानादि लीला, श्रीकृष्ण का गृह-प्रत्यागमन, श्रीकृष्ण का अपराह्न भोजन।

५- <u>प्रदोष लीला</u>

श्रीराधा व कृष्ण का प्रदोषोपरि आरोहण व दूर से परस्पर दर्शन, श्रीकृष्ण का नन्दसभा में गमन व नृत्यादि दर्शन, श्रीकृष्ण और बलराम का रात्रि भोजन व शयन, श्रीराधा की स्वगृह में रात्रि भोजनादि लीला।

स्वर गूँजने लगे, पक्षियों के कलरव से राधाकृष्ण की नींद टूटी । आलस्य के कारण वे एक दूसरे से विलग नहीं होना चाहते ।

शृंगाररस में परकीया भाव की मान्यता के कारण गौड़ीय संप्रदाय में शृंगारिक वर्णन अत्यन्त खुल कर किया गया है । कृष्ण को जगाने में वात्सल्य का अभाव है, जटिला आदि के प्रसंग विषयानुकूल रस का संचार करते हैं । जगाने के समय मंगला की भाँति ही राधा कृष्ण की स्तुति अत्यन्त भक्तिभाव से की जाती है, उनकी सेवा करने की प्रार्थना की जाती है :

" गोकुलचन्द्रौ । जय रसिकेन्द्रौ ।
जागृहि तल्पम् । त्यज अलिकल्पम् ।।
प्रीत्यनुकूलम् । शिव-पद-मूलम् ।
लोचन कान्तानाम् । रवि-भा-भान्तानाम् ।।[1]

प्रातःकाल जान कर सखियाँ उनके मुखारविन्द का दर्शन करने लग पड़ती हैं । दोनों की सेवा में बड़ी तत्परता से लगती हैं। उधर पुत्र को खोजती हुई विकल यशोदा कुंज कुटीर पहुंचती है । उनका विलक्षण भाषण सुन कर श्रीकृष्ण चौंक कर उठ बैठते हैं । जटिला भी राधा के अन्वेषण में उधर ही आ पहुंचती हैं । जटिला के वचन सुन कर राधा को क्षोभ आता है । उनकी मनोदशा का एक सुन्दर पद बलराम दास का है :

" कंकरु वन भरि मधुकर मधुकर
कुजइ कोकिल-वृन्द ।
शुनि ननु मोरि गोरि पुनि झाँपलि
मुंदि नयन-अरविन्द ।।
जागह प्राण-पियारि ।
रजनि पोहायल गुरुजन जागल
ननदिनि देयब गारि ।। ध्रु० ।।
जटिला शाशु आसु भरि रोयइ
भीजइ नामुन - नीर ।
शारिक वचने चमकि धनि उठइ
ढुलि ढुलि पड़इ अथीर ।।

१- पदकल्पतरु ४ चतुर्थशाखा पद सं० २५८६ ।

झलकि बिनाउल गुरुजन सखिगन
आगल आभरण - चीर ।
'घनराम' केरि कहाइ बुझाइल
दुहुं तनु झांपि निचोलि ।।[1]

सहचरियों को सामने देख कर कलमुखी राधिका लज्जा से अपना मुख ढांप लेती हैं। कृष्ण राधा को दोनों ढकराते हैं और राधा की सखियां खिलखिलाकर हंसिया कृष्ण को। जग कर वे दोनों अपने मुख को दुग्धान तो करते हैं किन्तु अन्तस्तल आतुर होकर। परोढ़ा-प्रेम के कारण दिन भर के सामाजिक बन्धनों को सोच कर वे बार बार अधीर हो जाते हैं।[2]

२- पूर्वाह्न

रात्रि के अवसान पर सारी सखियां सतर्कतापूर्वक काम में लग जाती हैं। रंग के मन्दिर को साफ करके वहां वेशभूषा का साज-शृंगार रखती हैं। दशन-माजनी, रसना-शोधनी को थाल में, कर्पूर आदि से सुवासित जल गागर में, मुखप्रक्षालन एवं स्नान के निमित्त वेदी पर रख दिया जाता है। गमछा (अंगोछा) उबटन आदि भिन्न भिन्न आवश्यक वस्तुएं सखियां लाती हैं। निधि से भी अधिक नाना प्रकार के उपहार स्नेहमयी सखियां अपनी आराध्या के दन्तधावन व स्नान के लिए थाल में सजाकर ले आती हैं।

श्यामला विमला मंगला अमला आदि को देख कर राधिका उनसे गले मिलती है और रात्रि की रसकथा कहती कहती 'रसोद्गार' में, उनका कंठ गद्गद् हो जाता है। अपने प्रति किये गये कृष्ण के मनुहार को राधा उत्फुल्ल हृदय से बखानती है। यह युगल रस की सखियों का साध्य है। राधिका के मुख से अप्राकृत रस का वर्णन सुन कर सखियां उस रस का आस्वादन करती हैं। 'रसोद्गार' में प्रकारान्तर से राधा का मनोभाव व्यक्त होता है। वे अनुराग से विवश हो जाती हैं और उस प्रीति को विचित्र कहती हैं जो उन्हें भी नचाती है। आखिर किस प्रकार विधाता ने उनका निर्माण किया है, प्रेम तो सभी करते

१- पदकल्पतरु, वर्णीमाला, पद सं० २४८६ ।
२- पद आध चलत खसत पुन पेखए
लाजे भेलाह मुख ।
एकक परान देह पुन भिन भिन
जाए से मानिये दुख ।। २४०८ ।। पदकल्पतरु

जब घर आते हैं तब स्नान करके वहीं सुस्वादु भोजन करते हैं। आचमन करके कृष्ण पर्यंक सेवन करते हैं और दासगण उनका पाद संवाहन। फिर राधा आदि अन्य जन भी भोजन करते हैं। भोजन के उपरान्त यशोदा राधिका के कुंचित केशों का शृंगार करती हैं, सिंदूर पूरित करती हैं, काजल लगाती हैं तथा रत्नाभूषणों से सुसज्जित करती हैं। नाना स्नेहातिरेक व्यक्त करती हुई यशोदा कहती हैं कि यह रूपगुण की निधि विधाता ने उन्हें नहीं सौंपा नहीं तो वे न जाने कितना दुलार करतीं। अपने पुत्र के लिए उन्हें कोई रमणी ही नहीं जचती, ढूंढने पर भी किसी देश में न मिल सकी। यशोदा की इस विषाद-कथा को सुनकर राधा मुख पर वसन ढंक कर हंसती हैं।

सखागण वेणु से, गौवें अपने स्वर से, कृष्ण का वन में आवाहन करने लगते हैं, इसलिए कुछ क्षण विश्राम करके कृष्ण वन चले जाते हैं। यशोदा इस विछोह को किसी प्रकार सहन करती हैं। उधर कृष्ण गोष्ठ जाते ही राधा का इन्तजार करने लगते हैं क्योंकि कुन्दलता राधा को उनके घर पहुंचाने अभी जायेंगी ही। कृष्ण से मिल कर राधिका घर पहुंचती हैं। यशोदा द्वारा अलंकृत अपनी वधू को देख कर जटिला किंचित् दुःखी होती हैं किन्तु राधा के रूप यौवन के संभार पर न्यौछावर हो जाती हैं। वधू से सूर्यपूजा की तैयारी करवाती हैं, सखियाँ सहित वन के किसी सूर्यमन्दिर में उन्हें पूजा करने भेजती हैं।

३- मध्याह्न

पूजा के छल से राधा सखियों को लेकर दिवाभिसार करती है। कुसुमित कुंज में कातर कृष्ण कामिनी राधा के विषय में न जाने क्या क्या अनुमान लगाते हैं। कभी सुबल से पूछते हैं कि आखिर राधा ने इतनी देर क्यों लगा दी? दारुण गुरुजनों ने बाधा डाली या कि उसने मान ठाना है? अथवा स्वजनों के स्नेह में विभोर है? सुबल उनकी कातरता देख कर समझाते हैं कि राधा से उनका मिलन शीघ्र ही होगा। उधर राधा की विरह-वेदना देख कर वृन्दादेवी कृष्ण का पता-ठिकाना दे देती हैं। कुंजतीर पर दोनों का मिलन होता है।

देवतापूजन के मिस राधा कृष्ण से मिलती हैं। नारी आराधना का फल कदम्बतरु के नीचे श्यामल देवता से प्राप्त हो जाता है। अनुराग-विह्वल प्रेमी-युगल एक दूसरे को पहिचान नहीं पाते, एक दूसरे को देखते देखते उन्माद एवं विभ्रम दशा को पहुंच जाते हैं :

> दुहुं मुख हेरइते दुहुं भेल धन्द।
> राइ कहे तमाल माधव कहे चन्द।।

नील-पुतलि जनु दुहुं दुहुं देह ।
ना जानिये प्रेम कैसन जनु नेह ।।[1]

दोनों प्रेम-गुरु के शिष्य बन जाते हैं, जो उन्हें उज्ज्वल-रस के नाना भाव-भूषणों से भूषित करता है । सब भाव सात्विक अलंकार उन पर चढ़ने लगते हैं :

दुहुं-प्रेम गुरु भेल शिष्य तनु मन ।
शिखाय दोहांर नृत्य अति मनोरम ।।
चापल्य औत्सुक्य हर्ष भाव-अलंकार ।
दुहुं मन शिष्य परे भूषणओर भार ।।
स्तम्भादि उद्भाव सुदीप्त सात्विक ।
एई सब भावभूषण शरीर अधिक ।।
अयत्नज शोभा आदि सप्त अलंकार ।
स्वभावज विलासादि दश परकार ।।
भावादि अंगज तिन शोभए वलित।
द्वाविंशति अलंकारे राधाङ्ग भूषित ।।
नाना भावे विभूषित कहने ना जाय।
ए यदुनन्दन दास विस्तारिया गाय ।।[2]

इस मिलन के बाद होली-लीला होती है और फिर आन्दोलन (झूला) लीला । तदनन्तर राधाकृष्ण सखियों सहित वनमें भ्रमण करते हैं । अवसर पा कर राधिका कृष्ण की वंशी चुरा लेती हैं और क्रमशः सारी सखियों के पास उसे पहुंचाती जाती है । ख्याल आने पर कृष्ण वंशी के लिए अनुनय-विनय करने लगते हैं । अन्त में सखियों द्वारा दया किये जाने पर राधा से उन्हें मुरली मिल जाती है । कानन की कुसुम-सुषमा तथा षटऋतुओं की शोभा का अवलोकन करते हुए राधाकृष्ण वन में विचरण करते हैं ।

इस वन विहार के उपरान्त किसी रत्न-मन्दिर में सखियों सहित बैठ कर नागरी नागर मधुपान करते हैं । मधुपान करके उनकी अवस्था और भी विचित्र हो जाती है । एक तो मधुर प्रेम का सहज उन्माद, उस पर मधुपान । राधाकृष्ण शिथिल हो जाते हैं,

---

१- पदकल्पतरु पद सं० २६०६

२- ,, ,, ,,

सारी सखियाँ अपने अपने कुंज मन्दिरों में शयन करने चली जाती हैं। यहाँ नागरी-नागर के केलि-विलास को देख कर मन्मथ भी हारा जाता है।

तदनन्तर श्रम परिहार के लिये जलक्रीड़ा का आयोजन होता है। स्नान के बाद, दासियाँ फलफूल का संस्कार करके थाल में अर्पण करती हैं। राधा-कृष्ण पर शारी शुक का वादविवाद चल पड़ता है। शुक कृष्ण के रूप गुण का वर्णन करता है, शारिका राधा के। शुक के गुरु हैं कृष्ण, शारिका की ललिता। अतः पर प्रायः राधा के रूप गुण की ही विजय होती है। कृष्ण के रूप की अनुपम व्यंजना [illegible] ने शुक के शब्दों में इस प्रकार की है :

'गौरव-मोहित-पुष्प-विनिन्दित -
नवनील-नीरद-कज्जल-मरकत-
निर्मल- वन -माला-परिमण्डित ।।
मन्दमार-[illegible]-भाति-अरविन्द-
नवनाम्बुज नव-किरण-पंक्ति ।।
जय जय मरकत-कन्दल सुन्दर[1] ।।

इसके बाद पाशक्रीड़ा होती है। पण में नाना प्रकार की केलियाँ लगाई जाती हैं। शुक उस रसमय प्रसंग की भंगकारिणी जटिला के आगमन की घोषणा करता है। जटिला का आगमन सुन कर राधा सखियाँ सहित सूर्य-मन्दिर में प्रवेश करती हैं। कृष्ण गर्ग मुनि के शिष्य बन कर शास्त्रपारायण ब्रह्मचारि-ब्राह्मण के वेश में उस मंदिर में पधारते हैं। कुंदलता की सिफारिश से जटिला उन ब्रह्मचारी महाशय को बुला भेजती हैं। कृष्ण धीर-शान्त-कलेवरधारी आदर्श विप्र का वेश धर कर आते हैं। जटिला इस शिरोमणि की बनावटी गंभीरता से प्रभावित होकर राधा को उन्हें सौंप देती हैं कि वे ही सूर्यपूजा के पुरोहित बनें। विदा पाकर बटु सहित राधिका कानन की ओर प्रस्थान करती हैं। सूर्यपूजा करके राधा घर वापस आती हैं।

४- अपराह्नलीला :उत्तरगोष्ठादि:

श्रीकृष्ण गोचारण से लौटते हैं, इधर राधा गृहकार्य समाप्त कर चुकी हैं। मुरली ध्वनि सुनकर व्रजांगनाएं उत्कंठित हो अपनी अपनी अट्टालिका पर चढ़ कर श्रीकृष्ण-दर्शन

१- पदकल्पतरु पद सं० २६६२ ।

में नेत्र बिछाये रहती हैं। किन्तु राधा अपनी सखी की चतुराई से श्याम के साथ आ मिलती हैं और अभिन्न मन से उनके रूप तथा प्रेम सुधा का पान करती हैं।

कृष्णागमन से प्रफुल्लित यशोदा आनंदविह्वल होकर थाल सजाकर उनकी आरती की तैयारी करती हैं। सखियाँ कोई मंगल गान गाती हैं, कोई डंका बजाता है कोई झाँझ-झनकार तो कोई घड़ियाल। कृष्ण की जयजयकार से प्रांगण गूंज उठता है। यशोदा विधि-पूर्वक कृष्णकी आरती उतारती हैं, विप्रों को दान देती हैं। दासगण अपने अपने कार्यों में तत्परता से नियुक्त हो जाते हैं, कोई पीढ़े पर शीतल नीर रखता है कोई गडुआ ले आता है, कोई बलराम कृष्ण को पीढ़े पर बिठलाता है, कोई उबटन मलता है, कोई अंगमर्दन करता है, कोई स्नान करवाता है आदि आदि। माँ की प्रीति से प्रसन्न कृष्ण राधा द्वारा बनाया हुआ भोजन करने बैठते हैं। जलपान करके कृष्ण खरिक में गोदोहन के लिए जाते हैं। गोदोहन का दूधपात्र लेकर माँ के निकट बैठते हैं। उनके किसी इंगित से राधा की एक सखी यह समझ जाती है कि गोदोहन तो हुआ, अब एकान्त में राधा से उनके मिलने की बेला आ रही है।

५- प्रदोष

सायाह्न के अन्त में कृष्ण नंद उपनंद के साथ घर के बाहर किसी सुरम्य स्थली पर बैठते हैं और नट भाँति भाँति का प्रदर्शन करते हैं। गायन, वाद्य, नृत्य का समारोह जब समाप्त होता है तब सेवकगण बलराम कृष्ण के अस्तव्यस्त वसन अलंकार आदि उतार कर भोजन का वस्त्र धारण कराते हैं। उनका चरण प्रक्षालन करके उन्हें भोजन-भवन में ले जाया जाता है। राम कृष्ण माता पिता के प्रेमरस से सिंचित भोजन के सब रसों का आनंद लेते हैं। आचमन कराकर सेवकगण उन्हें शयन कक्ष में ले जाते हैं। क्लान्त तन नींद के कारण ढल ढल पड़ता है, सेवक उनका पाद संवाहन करते हैं। नींद में लीन देखकर सेवकगण अपने अपने घर चले जाते हैं।

राधा भी भोजनोपरान्त अपने घर सखियों से परिवेष्टित होती हैं। वृन्दादेवी यमुना-पुलिन पर किसी चम्पक-कानन में फूलों का पर्यंक निर्मित करती हैं। सुकोमल कमलदलों की शैया बनाती हैं, उपधान भी फूलों का ही होता है। कानन की शोभा द्विगुण तथा चतुर्गुण हो जाती है। उसकी मधुसुषमा में जैसे ऋतुराज मदन को फूल-के शर देकर विचरण कर रहा होता है। शीतल मंद सुगंधित समीर बहता है और पराग से धरती परिपूरित हुई रहती है। ऐसे मादक वातावरण में एक सखी राधा को बुलाने जाती है।

वल्लभ-संप्रदाय :

इस संप्रदाय में वात्सल्य एवं सख्य भावों की प्रधानता के कारण अन्य संप्रदायों के अष्टप्रहर सेवा विधान से भिन्नता है। इसमें भावों की विविधता के कारण ऋतुसेवा का समावेश भी गया है। वल्लभसंप्रदाय में सेवा का क्रम इस प्रकार है---
१- मंगला २- शृंगार ३- ग्वाल ४- राजभोग ५- उत्थापन ६- भोग ७- संध्याआरती ८- शयन।

१-मंगला

प्रातः के उदय होते ही मंगला का विधान है। इसमें श्रीकृष्ण के स्वरूप को जगाना, मंगलभोग करवाना और मंगलाआरती ये तीनों कार्य अन्य संप्रदायों के अनुरूप ही हैं किन्तु इन सभी कार्यों में वात्सल्य का उच्छलन है, सखियों की विदग्धता नहीं।

कुसुम माला गूंथकर ब्रजाङ्गनायें प्रातः होते ही कृष्ण दर्शन की प्रतीक्षा में नंद भवन आ जाती हैं। यशोदा कृष्ण के मुख पर से जब वस्त्र हटाती हैं तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे समुद्र मंथन के फेन के बीच से चन्द्र प्रकट हुआ हो। कृष्ण के जागरण-उद्बोधन में कहीं कहीं आध्यात्मिक संकेत स्पष्ट हो उठा है। आनंद की निधि के जागते ही भव-विलास विगत हो जाता है, कृष्ण का जगना ज्ञान के सूर्य का उदय होना है जो आशा के त्रास तिमिर को दग्ध कर संतोष विकीर्ण करता है। प्रातःकाल में खग का चहकना परब्रह्म की विरुदावली है। इसीप्रकार प्रत्येक क्रिया किसी न किसी सात्विक भाव को जागरित करती है, कृष्ण का जगना आंतरिक जागरण बन जाता है:

'जागिए गोपाल लाल, आनंद निधि नंद-बाल,
जसुमति कहै बार बार, भोर भयो प्यारे।
नैन कमल-दल बिसाल, प्रीति-बापिका-मराल,
मदन ललित बदन ऊपर कोटि वारि डारे।
उगत अरुन बिगत सर्वरी, ससांक किरन-हीन
दीपक सु मलीन, छीन-दुति समूह तारे
मनो ज्ञान-घन-प्रकास, बीते सब भव-बिलास,
आस-त्रास-तिमिर तोष-तरनि-तेज जारे।
बोलत खग-निकर मुखर, मधुर होइ प्रतीत सुनौ
परम प्रान-जीवन-धन मेरे तुम बारे।

नंदरानी मांगि ल्यावत मैया ।
बल मोहन खेलत आंगन में सुन्दर करानक सैया ।।
मांगत छंगन करत किलकारी उर आनंद बढ़ैया ।
फूंकि फूंकि पय पीवत कमल मुख करत परत दोऊ भैया ।।
ताहि निरखि सुर नर मुनि मोहे जोग ध्यान बिसरैया ।[1]
"गोविंद" प्रभु पिय बदन चंद को अनुमति लेत बलैया ।।

ग्यास के बाद कृष्ण सखाओं सहित वन में गोचारण के लिये प्रस्थान करते हैं । वन में राजभोग का समय होता है ।

५- राजभोग

वन में यशोदा किसी ग्वालिन से मध्यान्ह का भोजन, जिसे "छाक" कहते हैं, भेजती हैं । छाक को ही राजभोग कहा जाता है । इसमें भांति भांति के व्यंजन होते हैं । छाक खाने में कृष्ण के मैत्रीभाव की प्रकटतम अभिव्यक्ति होती है । किसी पहाड़ी पर चढ़कर सब सखाओं को टेरते हैं । अर्जुन, भोज, सुबल, श्रीदाम, मधुमंगल आदि के जुटने पर वे सब को छाक बांटते हैं । सखाओं के साथ छाक खाते हुये कृष्ण कभी किसी का जूठा कौर छीन कर खाने लगते हैं, कभी किसी का । व्यंजन को सराहते हुये यज्ञ-पुरुष उसका सख्य भाव से स्वाद लेते हैं, उनके इस मानवीय व्यवहार पर देवतागण आश्चर्यान्वित होते हैं :

सखा परस्पर करत कलोल ।
व्यंजन सबै सराहि भोजन मीठे अमृत वचन के बोल ।।
तोरे पलास पत्र बहुतेरे पनवारी बांधी विस्तार ।
चहुंदिसि बैठी ग्वाल मंडली जैंवत लागे नंद कुमार ।।
सुर विमान सब कौतुक भूले धन्य पुरुष हैं नीके रंग ।
सेष प्रसाद रह्यो सो पायो "परमानन्ददास" को संग ।।[2]

अष्टछाप के कुछ कवियों ने छाक के प्रसंग में शृंगार रस का पुट भी भर दिया है । ग्वालिन छाक लेकर कृष्ण को टेरती हुई किसी गहवर वन में भटक जाती है, कृष्ण उसे

१- गोविंदस्वामी पद संख्या २५८
२- परमानन्दसागर पद संख्या ४५१

खोजती हुई उपवन वन में आ पहुंचती हैं । अथवा कभी मेह बरसने लगता है और छाक लाने वाली ग्वालिन के वस्त्र भीग जाते हैं । तो अपना पीताम्बर देकर कृष्ण उसकी प्रीति जोड़ते हैं । इसी प्रकार के कई प्रसंगों की उद्भावना की गई है ।

५- उत्थापन

भोजन करने के उपरान्त कृष्ण दोपहर को शयन करते हैं । इस विश्राम-शयन से उन्हें जगाना उत्थापन कहलाता है । उत्थापन में भोग भी लगता है जिसमें उन्हें फल फूल भेंट किया जाता है ।

उत्थापन के शेष में संध्या होने पर कृष्ण गायें बटोरने लगते हैं और ब्रज लौटने की तैयारी करते हैं । ग्वालों से गायें घेरी नहीं घिरतीं किन्तु कृष्ण की एक वंशी-तान पर अनुरागविह्वल गायें स्रवित दुग्ध से धरती सींचती हुई कृष्ण के पास उपस्थित हो जाती हैं । इसीलिये ग्वालगण कृष्ण से ही गाय बुलाते हैं ।

> गैयां गईं दूरि टेरौ तू कान्ह ।
> जो ऊंचे टेर सुनावो तब बहुरैंगी मेरे जान ।।
> वृन्दावन में चरत चारत सुनि नीकि धमारि टेर परी कान ।
> दूध धार धरनी सींचत आईं 'गोविंद' प्रभु पै——[1]
> बछरा करत पयस मुख पान ।।

संध्या होते ही कृष्ण गायों के साथ घर लौटते हैं । गोपियां उनका गोरज मंडित रूप देखने को आतुर अपने अपने द्वार पर खड़ी रहती हैं ।

६- भोग

घर आनेपर कृष्ण को संध्या का भोग अर्पित किया जाता है । कृष्ण को देखने गोपियां नन्द-द्वार पर भीड़ लगा देती हैं । उनके इस व्यवहार पर रोहिणी निन्दापरक कटाक्ष भी करती है :

> बैठत हैं री । भोजन जब जिनि आवौ तिवारी ।
> खिरकीरि तें फिरि-फिरि आवति बरजी हौं सौ बारी ।।

१- गोविंदस्वामी पद संख्या ३३६

रोहिनि बाल निरखि ठाढ़ी भई पै दै आड़ि मुख सारी ।
जुग तरुनी जोबन-मदमाती रहीं जु डैल-धारी ॥
कोउ गरजत कोउ तरजत गावति कोउ बजावति तारी ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवर्द्धन - धर बन दीं बैठे धारी ॥[1]

७- संध्या आरती

भोग के उपरान्त कृष्ण की संध्या-आरती होती है । बड़े धूमधाम से यह आरती की जाती है । रत्नजटित कंचन-थाल में कपूर चंदन आदि मिलाकर दीप व जलाया जाता है । घंटा झालर आदि बाजों तथा [illegible] गोपियों के मंगलगान सहित आरती उतारी जाती है :

रतन जटित कनक-थार मधि [illegible]
दीपमाल कपूर आदि चंदन सौं अति सुगंध मिलाई ।
झनन झनन घंटा घोर, झनक झनक झालर झकोर
तब कोऊ बोलति ब्रज की नारि सुहाई ॥
तनन तनन तान मान, होति कुही सुर- संधान
गोपी जन गावत हैं मंगल बधाई ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन लाल, आरती बनी रसाल
तन मन धन वारति हैं जन जसोमति मैराई ॥[2]

८- शयन:

संध्या आरती करके कृष्ण को रात्रि का भोजन कराया जाता है जिसे 'ब्यारू' कहते हैं । ब्यारू करवाकर उन्हें पलंग पर सुला दिया जाता है । शयन के समय यशोदा का कहानी कहना और कृष्ण का हुंकारी भरते हुये निद्रामग्न हो जाना वात्सल्य का विशेष भाव-स्थल है । संक्षिप्त कृष्ण राम की कथा में लक्ष्मण से 'चाप चाप' कहते हुये

१- कुंभनदास पद संख्या १८३
२- चतुर्भुजदास पद संख्या २८४

जाकर यशोदा को चकित कर देती हैं किन्तु अवतारी कृष्ण को बालक का चौंकना जान यशोदा उन्हें थपकी देकर शान्त कर देती हैं । कृष्ण के सो जाने पर दिन भर के कष्ट थकान पर पश्चाताप करती हुई यशोदा उन्हें प्रेम विभोर होकर सहलाती भी जाती हैं ।

'ब्रज' में राधा-कृष्ण-लीला का वर्णन भी प्राय: कवियों ने किया है ।

<u>रागमूलक साधना</u> :

नवधा भक्ति एवं सेवा-प्रणाली सामान्य सरणियाँ हैं जिनका अनुसरण करता हुआ व्यक्ति भक्ति के पथ पर दृढ़ होता है । इनके अतिरिक्त एक पथ और भी है— भगवान से ऐकान्तिक अभीप्सा का जो आरंभ ही प्रेम से होता है और केवल अपनी उत्कट अभीप्सा की तीव्रता से परिचालित होकर अन्य प्रणालियों के अभाव में भी अपनी चरम परिणति पा लेता है । श्रवण, कीर्तन आराधना आदि इस प्रेम के प्रतिफलन में स्वत: नैसर्गिक रूप से आ जाते हैं, भक्ति के साधन बन कर उसे विकसित करने नहीं वरन् प्रेम की स्वाभाविक अभिव्यक्ति बन कर । यह मार्ग केवल उन आत्माओं का है जो सामान्य जीवन में व्यस्त रहते हुए कृष्ण के अप्रत्याशित सौन्दर्य की झलक से किंवा उनके अलौकिक मुरलीनाद से खिंचकर उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं और जब तक उनका सान्निध्य नहीं मिल जाता तब तक विकल रहती हैं । कृष्ण की खोज में ये साधक अपना सर्वस्व गवाँ देते हैं । ऐसी साधना कृष्ण की अतिकृपा से अंकुरित होकर फलीभूत होती है । यह अदम्य प्रेम ह्लादिनी नामक स्वरूपशक्ति का सार है जो व्यक्ति को सांसारिक पदार्थों के आकर्षण से खींच कर कृष्ण की शाश्वत सौन्दर्य और प्रेम के आगार की ओर प्रेरित करता है । कृष्ण के प्रति इस निगूढ़ अन्तश्चेतना का [illegible] होता है किन्तु सामान्य व्यापारों से उसका प्राकृत कृष्ण नहीं, वरन् वह कृष्ण जिसके अन्तर में आध्यात्मिकता का दिव्य कमल प्रस्फुटित हो रहा हो ।

यह प्रेम-मार्ग आपातत: मानवीय प्रेम की विभिन्न मनोदशाओं का आकार धारण करता हुआ श्रीकृष्ण से तादात्म्य पा लेता है । यद्यपि यह दिव्य प्रेम, सगुण साकार की भावना से यह लीला 'मन माणिक है काम कसौटी' नहीं है, तथापि है यह दिव्य ही, त्रिगुणातीत के ही प्रति प्रेम । इस प्रेम मार्ग का निरूपण अवश्य ही मानवीय ढंग से किया गया है क्योंकि इन मानवीय प्रतीकों के अतिरिक्त उस सत्य को और किसी भाँति अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता । अनुरागमूलक साधना कृष्ण से मानवीय संबंधों को स्वीकार करती है क्योंकि भगवान भक्त के लिये अनिर्वचनीय निराकार नहीं रह जाते, वे दिव्य पुरुषोत्तम के रूप में जीव के साथ नाना संबंध-सूत्र जोड़ते

है । पिता-पुत्र, मित्र-सखा, शिशु-माता, प्रेयसी-प्रियतम आदि— सभी प्रकार के मानवीय संबंधों का सहारा लेकर यह भक्ति सिद्ध होती है । ये संबंध आरोपित नहीं किये जाते वरन् उसी निकटता से अनुभूत किये जाते हैं जिससे निकट से मानव मानव का संबंध अनुभव किया जाता है । मानव के प्रति कृपा प्रकाश के लिये ही श्रीकृष्ण की नरलीला है । उनकी सारी लीलाओं में नरलीला सर्वोत्तम है, एवं नरवपु उन्हीं का "स्वरूप" है, किसी प्राकृत मानव का अध्यारोप नहीं ।

परब्रह्म-नराकृति ही इस साधना के उपास्य हैं । विधि-विधान का उल्लंघन करती हुई इस पराभक्ति में प्रेम की सारी अन्तर्दशायें निरूपित हुई हैं । प्रेम का उदय, प्रियतम का अनुचिंतन, मिलन, विरह, मान, पुनर्मिलन--सभी अवस्थाओं का सांगोपांग वर्णन हुआ है । यह भावात्मक साधना कृष्ण के प्रति कान्त भाव को लेकर चली है, अन्य भाव केवल वल्लभसंप्रदाय में संकुचित है और चैतन्य संप्रदाय में अत्यन्त विरलता से उपलब्ध होते हैं । राधावल्लभ एवं निम्बार्क संप्रदायों में प्रेम की साधनावस्था की कोई चर्चा नहीं है, सिद्धावस्था का ही कथन है । भागवत-प्रेम की तमाम मनःस्थितियों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन चैतन्य एवं वल्लभ संप्रदायों में हुआ है । यों वल्लभसंप्रदाय में वात्सल्यभाव की उपासना ही महत्वपूर्ण है, किन्तु इस संप्रदाय के साहित्य में मधुरभाव की जितनी विपुल चर्चा है उतनी सूर के अतिरिक्त किसी कवि में वात्सल्य की भी नहीं है। मधुरभाव की साधना ही रागभक्ति का प्राण है । चैतन्य संप्रदाय में यह ~~निर्विकल्प लीलाओं की ही~~ काव्यरूप की अनुगामिनी बन कर चली है, वल्लभ संप्रदाय में विशिष्ट लीलाओं की । शृंगारपरक साधना की प्रतीकात्मक व्याख्या का यहाँ यत्किंचित् प्रयास किया जा रहा है ।

चैतन्य संप्रदाय में मधुर भक्ति:

इस सम्प्रदाय   में मधुरभाव की साधना शृंगार-रस के काव्यशास्त्रीय रूप पर आधारित है । पूर्वराग, मान, प्रवास, संयोग आदि शृंगार रस के सभी अंग लिये गये हैं । किन्तु उज्ज्वल रस के अन्तर्गत इन अवस्थाओं का चित्रण करते समय कवि एवं विद्वान उनकी आध्यात्मिक सीमा की ओर जागरूक रहे हैं । मान्य लेखक दिनेशचन्द्र सेन ने स्पष्ट ही घोषित किया है कि बंगाली साहित्य के गीति-तत्त्व का उत्कर्ष उसकी आध्यात्मिक व्यंजना के कारण

प्रेमोपथ में स्थानास्थान कालाकाल नहीं है । इस पूर्वराग में मनुष्य घर से बाहर होकर, सीमा से असीम के पथ पर आ खड़ा होता है । जीवन के पारंपरिक पथ पर तो राधा नित ही आती जाती रही हैं किन्तु ऐसा अनुभव अभूतपूर्व ही था । कृष्ण का संस्पर्श उनके मर्यादित मानव-जीवन में अप्रत्याशित है । किन्तु जिस दिन से कृष्ण के साथ आत्मा का संबंध जुड़ जाता है उस दिन से जीवन की सारी मान्यताएं परिवर्तित होने लगती हैं । श्रीकृष्ण का आकर्षण रागप्रवण आत्मा को सारी भौतिक मान्यताओं लौकिक मूल्यों के प्रति उदासीन बना देता है, उदासीन ही नहीं जीवन जिस मानदंड पर टिका होता है वही ढहने लगता है । यह मानवीय चेतना का अतिमानवीय चेतना में निष्क्रमण है ।

यही नहीं, जीवन में जो आसक्तियां जड़बद्ध होती हैं उनका स्थान भी कृष्ण के प्रति नानाप्रकार की आसक्तियां ग्रहण करने लगती हैं । श्रीकृष्ण का दर्शन उनके व्यक्तित्व किंवा मुरली का श्रवण स्वभावतः मन एवं इन्द्रियों की गति को निरुद्ध कर देते हैं । नैतिकता की हद छोड़कर आत्मा आध्यात्मिकता में पदार्पण करती है इसलिये कुलशील की मर्यादाओं का भी उल्लंघन होने लगता है । राधा की मनोवृत्ति में आमूल परिवर्तन घटित होने लगता है । अब वे पति के शब्द सुनकर चौंक उठती हैं, किन्तु कृष्ण के मंजीर रव को सुनकर उन्मत्त की भांति दौड़ पड़ती हैं । पति के इतने लम्बे साहचर्य पर भी वे यह नहीं पहिचानतीं कि वह काला है अथवा गोरा, किन्तु श्रीकृष्ण को कभी एक देखने पर भी श्यामल-वर्ण बादलों को देखकर उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है । पति का स्पर्श वह जंजाल समझती हैं और तरुण तमाल का एकान्त में आलिंगन करती हैं । गुरुजन के वचनों को सुनकर अनसुनी कर देती हैं, कृष्ण की मुरली ध्वनि का पान श्रवण भर भर करती हैं । [1] इसप्रकार राधा की सारी इन्द्रिय-चेष्टायें कृष्णाभिमुखी हो जाती हैं । साधक की दर्शन, स्पर्श, श्रवण की सारी

१- सुनइते चमकइ गृहपति-- राव ।
सुना मंजीर-रवे उनमति धाव ।।
नाह ना चिन्हए काल कि गोर ।
जलद हेरि नयने झरु लोर ।।
काहाँ दुहुं गोरि आराधलि काम ।
जानहुं राई कोरे मन माप ।। ध्रु०
श्यामिक अमन-मन्दिरे नाहि उठइ ।
एकलि गमन कुंज माझा जुड़इ ।।

पतिकर परशे मानये जंजाल ।
किये आलिंगइ तरुण तमाल ।।
मुरलि निशान श्रवण भरि पिबइ ।
गुरुजन-वचन शुनइ नाहि शुनइ ।।
ऐछन काहु मरम अभिलाष ।
कहई निवेदित गोविन्ददास ।।

पदकल्पतरु पद सं० ३६

इन्द्रियाँ पूर्वराग के उदय होने पर कृष्ण में आकर्षण अनुभव करने लगती हैं । कृष्ण के अनिर्वचनीय रूप और यौवन से आकृष्ट होय जाति कुल, शील मर्यादा सभी भूल बैठता है:

जाति कुल शील सब हेन बुझि गैल ।
भुवन भरिया और घोषणा रहिल ।।
कुलवती सती हइया दु कुले दिलूँ दुख ।
ज्ञानदास कहे दढ़ करि थाक बुक ।।[1]

सारे सांसारिक संबंधों को छोड़कर कृष्ण कुछ कुछ भयभीत अवश्य होता [illegible] है, किन्तु वह मन में दृढ़ता प्राप्त किये रहता है—'ज्ञानदास कहे दढ़ करि थाक बुक।' यह दृढ़ता प्रेमोत्कर्ष के साथ ही आ जाती है क्योंकि जिसने एकबार भी कृष्ण का दर्शन पा लिया व वह उनकी सुधा को त्याग नहीं पाता । पीते भी यह रस उससे कोई छीन नहीं सकता और न ही वह छोड़ सकता है । कृष्ण के रूप को देखकर कौन नहीं अपना सर्वस्व गंवा [illegible] बैठा ? राधा अपनी सखी से कहती हैं :

कि पेखलूँ कदम्ब-तलारे ।
मिलि आरम्भ और पराग केमन करे
चित्त कि पारिये पासरिते ।। ध्रु०।।
से देखाये एकबार से कि पासरिये आर
कुन्डल दुसार ललुलानि ।
दास अनन्त कहे रूप हेरि के ना भूले
जाते नाहिक हेन प्राणी ।।[2]

कभी कभी ऐसा भी होता है कि कृष्ण आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं और पूर्णरूप से, उनका प्रेम अन्तिम सीमा तक पहुँचा हुआ होता है :

यदि और पद तहे गाये दास देव कहे
आभा दिन [illegible] बोले ।।[3]

१- पदकल्पतरु पद संख्या १२३

२- पदकल्पतरु पद संख्या १२८

३- ,, ,, ,, १४४

किन्तु आत्मा जैसे सोती रहती है । उस पर निश्चेतना का, जड़ता का आवरण पड़ा रहता है । कृष्ण की ओर से प्रेम पूर्णतया प्रकाशित है किन्तु राधा को उसका भान तक नहीं, कोई अनुभूति ही नहीं है उस प्रेम की उन्हें ।

सुन्दरि तुहुँ बड़ि हृदय पाषाण ।
कानुक नयनि धारा हेरि अनिवारि[1]
भरल न पार पराण ॥

किन्तु भागवत प्रेम इतना सशक्त होता है कि देर से ही सही आत्मा उस प्रेम का प्रत्युत्तर देने को बाध्य हो जाती है । यह सत्य है कि आत्मा की ओर से परमात्मा के प्रति प्रेम बिना परमात्मा की ओर से आत्मा के प्रति प्रेम एकांगी नहीं रह जाता, वह बिना प्रत्युत्तर उत्पन्न किये नहीं रह सकता । दोनों में एक दूसरे से मिलने की तीव्र उत्कंठा होती है । हो सकता है कि आरंभ में आत्मा के प्रेम को दृढ़ एवं सुदीप्त करने के लिये परमात्मा छिपा रहे, कृष्ण विरह तीव्र करने के लिये संभव है वे भी राधा जी के प्रति उपेक्षा प्रकट करें, किन्तु अन्त तक ऐसा नहीं रह पाता । प्रेम की शिखा प्रोज्ज्वल होकर जब सारी सांसारिक एषणाओं को भस्म कर देती है तब कृष्ण का प्रतिदान संभव ही नहीं अवश्यंभावी है । बंगला पदावली में आत्मा-परमात्मा दोनों ओर से प्रेम की प्रबलता व्यंजित हुई है । राधा को कृष्ण से मिलने की जितनी तीव्र उत्कंठा है, कृष्ण को भी राधा से मिलने की उतनी ही तीव्र उत्कंठा है ।

ए सखि किये कि पुराओब साधा ।
हेरब पुन किये रूपनिधि राधा ॥
यदि मोहे ना मिलब सो वर रामा ।
तबे किछ छार भरब कोन कामा ॥[2]

श्रीकृष्ण[3] भी भक्त के अन्तराल-निकुंज में कातर भाव से उसके वहाँ आने का पंथ निहारते हैं । व्यक्ति की आकुलता जब तक अन्तर्मुखी हो आत्मगत नहीं होती तब तक कृष्ण-

---

१- पदकल्पतरु पद संख्या ८७
२- ,, ,, ,, ६५७
३- देखल तुमि एकलि अगमारि ।
अन्तर भर भर पंथ नेहारि पद कल्पतरु पद संख्या ६६२

मिलि हेरि कम्पित अंग ।
तिमिर दुरन्त पथ हेरइ ना पारिये

पद- युगे वेढ़ल भुजंग ।
एके कुल कामिनी ताहे कुहु यामिनि
घोर गहन अति दूर ।
आर ताहे जलधर बरिखये झर झर
हाम जाओब कौन पुर ।।
एके पद-पंकज पंके विभूषित
कंटके जरजर भेल ।
तुआ दरसन- आशे कछु नाहि जानलूं
चिर दुख अब दूर गेल ।।
तोहारि मुरलि जब श्रवणे प्रवेशल
छोड़लूं गृह-सुख आश ।
पन्थक दुख तृण-हुं करि ना गणलूं[1]
कहइ गोविन्दास ।।

कभी कभी अभिसार का पथ शान्त एवं स्वच्छ भी होता है जैसे शुक्लाभिसार में । किन्तु पथ चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल अभिसार के लिये तो राधा जाती ही हैं । कंटकाकीर्ण मार्ग उन्हें विचलित नहीं कर पाता । एकबार पथ घर का प्रांगण छोड़कर जब बाहर निकलीं, सीमा से असीमता के पथ पर आ खड़ी हुईं, तब उन्हें पथ-विषम का विचार नहीं रह जाता । एकाकिनी[2] आत्मा कृष्ण-मिलन के मनोरथ पर चढ़कर सभी दुस्तर मार्गों को पार कर लेती है ।

१- पदकल्पतरु पद संख्या ६७९
२- विषधर भरल कुहर पथ पाँतर
एकलि चललि धनि गेह ।
चढ़लि मनोरथे दोसरे मनमथ
पन्थ विषम नाहि मान ।। पदकल्पतरु पद संख्या १००८

क्योंकि कृष्ण से मिलकर कल्पानित सारा क्लेश मिट जाता है ।

हेरि राधा मोहन शोभ सुशोभन[1]

मीटल पुरुषवर मुख ।

इस अभिसार के फल में पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से साक्षात्कार होता है । उनके अनुपम रूप एवं अगाध प्रेम को पाकर राधा अभिसार कालीन सारे कष्टों को भूल जाती हैं। रह जाता है केवल आनन्द, अपरिसीम आनंद ।

मान :

परन्तु प्रथम मिलन में आनंद की प्राप्ति होने पर भी दुःख की निःशेष निवृत्ति नहीं हो पाती । कारण आत्मा के उज्ज्वल प्रेम में कुछ मलिनता अवशिष्ट रहती है, उसमें अहं का आवरण रहता है । इसलिये भागवत्प्रेम में भी राधा के "मान" की अवधारणा हुई । राधा कृष्ण के बहुनायकत्व पर अकारण या सकारण रूठ जाती हैं, रूठ ही नहीं उन्हें कृष्ण से प्रेम करने का पश्चाताप तक होता है । किन्तु उनकी यह आत्मकेन्द्रिकता अज्ञानजन्य है, सीमित बुद्धि का परिणाम है । वस्तुतः एक ही पराशक्ति विभिन्न जीवों में अपना प्रकाश करती है, और इस विभिन्न पराशक्ति के साथ ही श्रीकृष्ण आत्मक्रीड़ा करते हैं । अपने ही बिम्ब होने के कारण कृष्ण सभी जीवों में अपना प्रतिबिम्ब खोजते हैं, यह प्रतिबिम्ब खोजना या देखना ही भगवान का जीव के प्रति अनुरागपूर्ण प्रेम है । सभी कृष्ण के अंश हैं, सब पर उनका समान प्रेम रहता है । इस सत्य को भूल जाने पर जीव में "मम" से प्रेरित "मान" का दुःख उत्पन्न होता है । मान में गर्व भी मिश्रित रहता है । यह गर्व कृष्णप्रेम में बाधक होता है । मान कोप, गर्व अधिकार भावना के पोषक हैं और भगवत्प्रेम में आत्मसमर्पण प्रमुख है, अधिकार भाव तो अहं का एक संकुचित और क्षुद्र रूप है । यह अहं जन्य अज्ञान असीम को केवल अपने में ही बांध रखना चाहता है, इसीलिये राधा मानवती हो उठती हैं । जीव के इस अज्ञान को कृष्ण दूर करने का प्रयास करते हैं, तत्काल से नहीं वरन् अपनी प्रेमातिशयता से । राधा का दोष अपने ऊपर आरोपित कर स्वयं अपने को कृष्ण अपराधी मान लेते हैं, तब कहीं राधा का अभिमान विगलित होता है, तब कहीं उनका मान भंग हो पाता है । कृष्ण कहते हैं कि राधा उन्हें छोड़कर सुखी रह सकतीं

१- पदकल्पतरु पद संख्या १०५२

है क्योंकि अज्ञानी जीव स्वरूप-विस्मृति में भी सुख मानता है, परन्तु कृष्ण उसे उस परिस्थिति में नहीं रहने देना चाहते । वह सदैव जीव की ओर उन्मुख रहते हैं :

सुन्दरि दूर कर विपरित रीत ।
तुहुं जब मोहे छोड़ि सुख पाओबि
काम नाहि छोड़ब तोय ।
तुया पद-नख-मणि-हार हृदय धरि
फिरि फिरि करी रब रोय ।।
रहा तुमि मानिनि देहि कातर मानि
व्याकुल येह ना पाय ।
अभिमान परिहरि बैठलि सुन्दरि
आध नयाने मुख चाय ।।
नाथ रसिकवर धरि आगोरल
फुलंक नयने करु वारि ।
दुहुं करे दुहुं जन-जीर मोचक[1]
वल्लभदास बलिहारि ।।

श्रीकृष्ण जानबूझ कर रस के संयोग किन्हीं से रंजित होकर अन्य के पास जाते हैं । उनके इस व्यवहार से गोपियाँ खिन्न होती हैं किन्तु कृष्ण का प्रगल्भ आकर्षण उन्हें अधिकार भावना से ऊपर उठाता है । इसीलिये जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तब इस विरह दुःख में स्वच्छाकृष्ण ही समान रूप से कातर हो जाती हैं । उनका प्रेम विदग्धता को पहुंच जाता है इसलिये उसमें अहं [illegible] स्वभावतः विलीन हो जाता है ।

माथुर-गीत

आत्मा की उस अवस्था की वेदना है जिसमें वह कृष्ण का साक्षात्कार नहीं कर पाती । यह माथुर गीत उन अंधेरी मध्यरात्रियों के गीत हैं जहां कृष्ण का प्रकाश अनुभूत नहीं हो पाता । उस विरहाधिक्य में राधा का अहं पूर्णरूप से नष्ट हो जाता

१- पदकल्पतरु पद संख्या ५६७

है, उन्हें एकमात्र श्रीकृष्ण की ही स्मृति रहती है, अपनी नहीं । कृष्ण के अभाव में सारा जगत शून्य प्रतिभासित होता है । देह मन प्राण की प्राकृत गतिविधियाँ निष्फल होकर केवल कृष्ण के संयोग की ही उत्कंठा में स्पंदित रहती हैं अन्यथा उनका प्राकृत रूप "मरण" दशा को पहुँच जाता है । केवल कृष्ण मिलन की आशा से ही वह राधा का अस्तित्व रखा है, संसार के लिये वे मृतप्राण हो जाती हैं । उनका आत्मनिवेदन निःशेषरूप से संपादित होता है ।

पूर्णिका :

भक्त के इस निःशेष आत्मसमर्पण के फलस्वरूप में उसकी सर्वांगीण एवं शून्यता में श्रीकृष्ण पुनः प्रकट होते हैं और राधा से उनका मिलन चिरन्तन हो जाता है । जो सम्बन्ध केवल आत्मा में चिर था वह रूपान्तरित देह, मन प्राण में भी चिर-प्रकट हुआ रहता है । यही श्रीकृष्ण के गोपन का रहस्य है, यही साधना की चरम परिणति है । राधा के व्यक्तित्व के समस्त स्तरों में कृष्ण समा जाते हैं । उनकी स्थिति उस कीट की भाँति हो जाती है जो भृंग चिन्तन करते करते तद्रूप, भृंग ही, बन जाता है । आत्मा परमात्मा का भेद में अभेद संबन्ध पूर्णरूपेण स्थापित हो जाता है । राधा कृष्ण तन मन प्राण सबमें एकाकार हो जाते हैं । इस चिर-मिलन को समृद्धिमान संभोग कहा गया है । उनका मिलन शाश्वत हो जाता है, जीव का भगवान से फिर कभी वियोग नहीं हो सकता । अब आनन्द निरन्तर समृद्ध होता जाता है। राधा कृष्ण से कहती हैं:

बुझ बुझ हे पराण पिया ।
चिर दिन परे पाइयाछि लागि
आर ना दिब छाड़िया ।।ध्रु०।।
तोमाय आमाय एक पराण
भालो से जानिये आमि ।
हियाय हइते बाहिर हइया
कि रूपे आछिले तुमि ।
ये छिल आमार करमेर दुख
सकल घुचिल शोग ।
आर ना करिब बाहिर आड़
राखिब एक ठाँइ ।।1

1- पदकल्पतरु पद सं० २००६

जब गोपियां किसी का भय नहीं रह जाता, वे कृष्ण के प्रति अपनी अनन्यासक्ति को शुद्ध शब्दों में घोषित कर देती हैं, उन्हें स्पष्टरूप से अपना पति कहने में नहीं झिझकतीं— "हौं अपनी पतिव्रतहिं न टरिहौं, जग उपहास करौ बकुरो री ।" कृष्णानुरक्ता गोपियों को जग की निंदास्तुति की परवाह नहीं रह जाती, वरन् वे अपना मन जोड़कर वे अन्य सभी से तोड़ लेती हैं— "मैं अपनौं मन हरि सौं जोर्यौ हरि सौं जोर सबनि सौं तोर्यौ ।"

रासलीला : प्रेम के पूर्णतया परिपक्व हो जाने पर गोपियां श्रीकृष्ण के साथ रमण करती हैं । नंददास की उक्ति है कि श्रीकृष्ण जीव को अपने समान बनाकर उसके साथ रास रस में रमना चाहते हैं[1]। वंशी- वंश का यह परम्पर रसास्वादन परमानंद की लीला का प्रतीक है, पुष्टिमार्ग का उद्देश्य है । मुरली ध्वनि, जो कृष्ण के उस तीव्र आकर्षण का प्रतीक है जो जीव की सांसारिक आसक्तियों को छुड़ा देता है, सुनकर गोपियां श्रीकृष्ण के निकट पहुंच जाती हैं[2]। किन्तु उनके साथ रमण करने के पूर्व कृष्ण गोपियों की अच्छी तरह परीक्षा लेते हैं । वे इस तथ्य को पुष्ट कर लेते हैं कि गोपियों को सिवाय श्रीकृष्ण के और किसी से भी कोई आसक्ति नहीं रही, कि वे पाप और धर्म की लौकिक मान्यताओं से परे जा चुकी हैं । गोपियां कहती हैं कि वे एकमात्र कृष्ण को ही जानती हैं, धर्म कर्म को नहीं । श्याम के बिना उनकी कोई गति नहीं है, यदि श्रीकृष्ण उन्हें स्वीकार नहीं करेंगे तो वे प्राणत्याग देंगी। किन्तु पर बाधा नहीं

१- जबहि मैन करुनामय सुन्दर नंद सुवन हरि ।
रम्यौ चहत रस रास, जनावें अपनी अबहरि करि ॥ १३५ । सिद्धान्त पंचाध्यायी
नंददास, दूसरा भाग, पृ० १८८

तथा ऐसैं कृष्ण की चाल, काम-रस उत्कट करिकै ।
मुक्त किरत गौं, सौं गिरिधर उर धरिकै ॥ ३०। वही, पृ० १८३

२- 'कहै सौरभ तजत हरि के, जांहि कुल पति गेह ।
कर राजी रीति के पति, तौ कहौ वाम देह ॥
किती तिरि सिवाइ जन हरि, जिहि सौन्दर्य और ।
सूर प्रभु गोविन्द सौं, जब भीर अंजन सीर ॥ पृ० ७१०, पद सं० १६३१

निकुंज लीला

सखी-भाव : राधाकृष्ण की निकुंजलीला साधना की सिद्धावस्था है । इसमें वे तन मन प्राण से एक हुए परममधुर भाव में निमग्न रहकर विहार करते हैं । मान विरह रहित यह शाश्वत लीला "निकुंजलीला" या 'नित्य विहार' कहलाती है ।

पुरुषोत्तम एवं पराशक्ति के घनीभूत चिदानन्द का आस्वादन जीवात्मा के लिये मात्र एक भाव से संभव है, वह है तत्सुख-सुखी भाव जिसे सखी भाव । यह भाव गोपी भाव से श्रेष्ठतर कहा गया है । गोपीभाव चाहे कितना भी उदात्त, परिष्कृत एवं अकुंठ क्यों न हो, उसमें आत्म-सुख का लेश रहता है । 'स्वसुख' भूलकर राधाकृष्ण के सुख में सुखी होना अर्थात् तत्सुख-सुखी भाव से भावित होना सख्य की निःशेष आत्मनिवेदन का परिचायक है । सखियों की विशिष्टता ही यह है कि उनमें स्वसुख की वांछा नहीं होती, कृष्ण यदि उन्हें अपनी प्रीति दान करना भी चाहें तो उन्हें स्वीकार्य नहीं होता, वे राधा कृष्ण के सुख में ही सुखी रहती हैं, प्रिय के सुख में सुखी होना प्रेम का परम निकष है ।[1] सखी का तात्पर्य भक्त की उस भावदशा से है जब वह शक्ति और शक्तिमान के आत्मलीन परात्पर रस का आस्वादन भाव की तुरीय अवस्था में करता है। यह रस जो गोपनीय से भी गोपनीय है केवल मात्र सखीभाव से ही गम्य है । इस परात्पर लीला में सखीभाव के अतिरिक्त किसी भाव की भी गति नहीं है । सखीभाव से इस रस का विस्तार होता है और उसी भाव से इसका आस्वादन : "नित्यविहार" या "निकुंज-लीला" का रस एकमात्र सखीभाव से ही प्राप्य है ।[2]

१- "जाकी जो मन भावती तिहि सुखी सब कोय ।
निमि विहाय तत्सुख सुखी मैं कहावै सोय ।।२२। सुधर्म बोधिनी पृ० १२

२- राधाकृष्णेर लीला एइ अति गूढ़तर ।
दास्य वात्सल्यादि भावेर ना हय गोचर ।।
सबे एक सखीगणेर इहा अधिकार ।
सखी हैते हय एइ लीलार विस्तार ।।
सखी बिनु एइ लीला पुष्ट नाहि हय ।
सखीलीला विस्तारिया सखी आस्वादय ।।
सखी बिना एइ लीलाय नाहि अन्येर गति ।
सखीभावे ताहा जेइ करे अनुगति ।।
राधाकृष्ण कुंजसेवा साध्य सेइ पाय ।
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय ।।
चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला : ८ वाँ परिच्छेद: पृ० १४४

निकुंज रस को पाने के लिये गोपीभाव तक को भूलना पड़ता है । भावनारसिक जी ने स्पष्ट कहा है[1] कि रास की भावना भूलकर ही स्वामी हरिदास जी की रस रीति समझी जा सकती है । वस्तुतः रास की भावना से संबंधित गोपीभाव रास का विश्वरूप है— जीवात्माओं के साथ कृष्ण की क्रीड़ा,उनकी रास का विश्वव्यापी रूप है । किन्तु कुन्जकेलि स्थिति परात्पर स्थिति है जो विश्व भावना का भी अतिक्रमण कर जाती है। यही जीवात्मा की तुरीयावस्था है,नित्यविहार परात्पर है[2] । विश्व में अभिव्यक्त चिदानन्द है तुरीयातीत चिदानंद महत्तर है,परात्पर स्थिति ही पूर्णतम है । अतएव जीवात्मा गोपी भाव से आनन्द लेना छोड़कर सखी भाव से पूर्णतम रस का आस्वादन करना चाहती है । सखी को राधाकृष्ण की केलि में ही पूर्ण परितुष्टि मिलती है। राधा कृष्णप्रेम की कल्पलता है,सखियाँ उसकी पल्लव,पुष्प आदि स्वरूप[3] । पल्लवादि को अपने सिंचन से अधिक सुख लता के सिंचन से प्राप्त होता है। अथवा व्यारी की लघुता है,उनका नियोक्ता है ।

१- जानै भूले पै नित रहै भावना रास की ।
जानै जाने रीति रस की स्वामी हरिदास की ।। भावनारसिक,पद सं ५६ (निम्बार्क माधुरी)

२- त्रिगुण वेद तें सूक्ष्म है तुरीय अपनो रूप ।
तुरीयातीत परा सुरस नित्य विहार अनूप ।।५६।। युगल गीतिनी पृ० ६६

३- सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन ।
कृष्ण सह निजलीलाय नाहि सखीर मन ।
कृष्ण सह राधिकाय लीला ये कराय ।
निजकेलि हइते ताते कोटि सुखपाय ।।
राधार स्वरूप कृष्ण प्रेमकल्पलता
सखीगण हय तार पल्लव पुष्प पाता ।।
कृष्ण लीलामृते यदि लता के सिंचय ।
निजसुख हइते पल्लवाद्येर कोटि सुख हय ।। चैतन्य चरितामृत,मध्यलीला
:८ वाँ परिच्छेद: पृ० १४४-४५

रस के आधार :

जीवन-जगत की अनुभूति में एक विशेष प्रकार का सुख, अप्रतिहत रसमिरता पाने की आकांक्षा प्राणिमात्र में होती है। यह आकांक्षा संवेदना में परिणत हो जाती है। 'भुक्ति' की यह संवेदना 'रस' कहलाती है। रस का स्वभाव है अखण्ड अबाध सुखात्मक होना- व्यक्ति में भी अखण्ड सुखोपभोग की कामना होती है। किन्तु लोक में 'रस' की अखण्ड किंवा निर्बाध स्थिति दृष्टिगत नहीं होती। इसका कारण क्या है? रसोपभोग शाश्वत और पूर्णतृप्त क्यों नहीं हो पाता? कृष्ण भक्ति के आचार्यों ने इस पर अत्यन्त गंभीरता से विचार किया है। उनका कथन है कि पहिले हमें इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि 'रस' है क्या? साधारणतः व्यक्ति जिसे रस समझता है वस्तुतः न होकर रस की विकृतिमात्र होती है। किसी भावना का क्षुब्ध होना रस नहीं है, कल्पना के मनोराज्य में इन्द्रजाल निर्माण रस नहीं है, अप्राप्ति से उपभोग की मादकता रस नहीं है। यहां तक कि काव्य में चर्चित रस भी वास्तविक रस नहीं है। यदि ये सब रस नहीं हैं तो रस है क्या? प्रत्युत्तर में कहा गया है कि रस आत्मा की वह निरपेक्ष अनुभूति है जिसमें प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक अनुभव एवं आनंदनिमज्जित लगते हैं। रस आत्म वस्तु होने के कारण स्वयं प्रकाश, चिन्मय तथा एक तान है --स्वयं-प्रकाश है इसलिए किसी बाह्यवस्तु या बाह्य सत्ता पर आश्रित नहीं है, चिन्मय है इसलिए दुःखरहित है, एकतान है इसलिए प्राप्ति-अप्राप्ति (मिलन-विरह) के द्वैत से मुक्त है। लोक में प्राप्त रस में इनमें से कोई भी विशेषता नहीं रहती। नश्वरता के बाह्यरूप में रस लेने की जो प्रवृत्ति होती है, वह चेतना की विभ्रान्ति है। परिवर्तनशील सत्ता का उपभोग निर्बाध तथा एकरस नहीं हो सकता, उसमें घात-प्रतिघात होना अवश्यंभावी है अतः रसभोग तादात्म्य, किंवा निरपेक्ष नहीं हो सकता। अखण्ड सुख-स्वरूप रसबोध का आधार कोई निरपेक्ष, स्वयंप्रकाश, शाश्वत वस्तु होनी चाहिए तभी उसके भोग का स्वभाव अखण्ड, निरपेक्ष एवं शाश्वत होगा। ऐसी वस्तु केवल एक ही है --स्वतंत्र, स्वयंप्रकाश, चिद्विलास-विलसित ब्रह्म अर्थात् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण ही वास्तविक रस के आधार हैं।

श्रुतियों ने जिस परमतत्व को 'रसो वै सः' कह कर रस रूप निर्दिष्ट किया है, वही श्रीकृष्ण का विग्रह धारण कर भूमण्डल पर अवतरित हुआ। राधावल्लभ संप्रदाय में 'रसो वै सः' की साकारता श्रीराधा में हुई। सामान्यतया श्रीकृष्ण को ही रस

का आधार माना गया है। श्रीकृष्ण अखिल रसामृतमूर्ति हैं, सृष्टि में प्राप्यमान समस्त रसों के आकार। वे समस्त रसों के मूलाधार हैं, उनमें सारे रस अपनी परम-उत्कर्षता एवं पूर्ण-परिपुष्टि पाते हैं। कृष्ण अन्य अवतारों की भांति केवल ज्ञाता रूप में विषयी ही नहीं हैं वरन् अपनी बहुमुखी अभिव्यक्ति से सभी रसों के आलंबन बनते हैं। भागवत की टीका में श्रीधरस्वामी ने इसका निर्देश करते हुए कहा है :

> "मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
> गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः॥
> मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
> वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥"

अर्थात् अग्रज बलराम सहित मंच पर प्रवेश करते हुए श्रीकृष्ण मल्लों को वज्र सदृश दर्शकों को नरश्रेष्ठ, स्त्रियों को मूर्तिमान कामदेव, गोपों को स्वजन, दुष्ट राजाओं को दुष्टदलनकारी, पिता को शिशु, कंस को मृत्यु, मूर्खों को विराट, योगियों को परमतत्व, वृष्णियों को परदेवता प्रतीत हुए। काम, क्रोध, भय, स्नेह किसी भी भाव के श्रीकृष्ण आलंबन बन सकते हैं, उनमें नियोजित होकर सारे भाव उन्हीं के समान अर्थात् अखण्ड आनंद स्वरूप में परिणत हो जाते हैं।[१]

भक्ति रस का स्वरूप :

श्रीकृष्ण की भक्ति का रस ब्रह्मानंद से श्रेष्ठतर है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म की की आनंदानुभूति में भोक्ता-भोग्य की पृथक सत्ता नहीं रह पाती, वैविध्य एवं कल्लोल विरहित एक निर्विकार, प्रशान्त आनंदसागर व्याप्त रहता है। जब यह समरसता वैविध्य धारण करती है तब उसके क्रोड़ में भगवान एवं उनकी स्वरूप-शक्ति की क्रीड़ा तरंगायित होती है। क्रीड़ा का यह उच्छलन भजनानंद किंवा लीला कहलाता है। पुरुषोत्तम शक्ति का यह विलास अपार ब्रह्म की निश्चल पृष्ठभूमि

१- "काम, क्रोध, भय, नेह, सुहृदता, काहू बिधि करि कोइ।
धरै ध्यान हरि कौ जो दृढ़ करि सूर सो हरि सम होइ॥
सूरसागर, पद सं० १६२९॥

होती है, चाहे कल्पना हो चाहे प्राणायाम, चाहे इन्द्रियलिप्सा । काव्यशास्त्र में जिस अलौकिक (?) रस की निष्पत्ति होती बताई गयी है वह भी वास्तव में विशुद्ध रस नहीं है, मिश्रित तथा अलौकिक नहीं, गुणात्मक ही है। काव्य में रसानुभूति सत्व गुण के आधार पर की जाती है, सत्व भी अन्ततः चित्त की एक वृत्ति है, चाहे वस्तु धरातल पर उसकी परिलक्षित वृत्ति क्यों न हो । किन्तु 'चिदानंद' स्वरूप निश्चय से अलौकिक है, वृत्ति न होकर रसरूपी है।" मन में चित्त के निष्क्रिय रहने से तथा रज में उद्वेलित रहने से रसानुभूति संभव नहीं है । सत्व द्वारा इन दोनों के अभिभूत होने पर काव्यरस की भी अनुभूति होती है, कृष्णभक्तों की दृष्टि में यह अपूर्ण एवं प्राकृत है क्योंकि प्रकृति के तीनों गुण सदैव एक दूसरे में ओतप्रोत रहते हैं, वे एक दूसरे में संचरण करते रहते हैं, जहां सत्व है वहां रज और तम भी अवश्य होंगे, सत्व की प्रबलता के कारण वे 'दब' जाते हैं किन्तु आत्मविसर्जन नहीं करते, कर भी नहीं सकते क्योंकि प्रकृति जहां भी विराजमान रहती है वहां क्रिया है, यह उसका स्वभाव है । अतः सत्व की एकान्त तथा निरपेक्ष स्थिति संभव नहीं है । अतएव सत्वप्रधान काव्य-रस अन्ततोगत्वा प्राकृत होता है, वृत्ति पर अवलंबित होने के कारण नश्वर तथा अपूर्ण होता है । वृत्ति का यह स्वभाव है कि वह निरपेक्ष नहीं रह सकती । अप्राकृत रस में निरपेक्षता एक विशिष्ट गुण है, उसमें भोक्ता एवं भोग्य के अतिरिक्त एक और तत्व अनिवार्य है —साक्षीतत्व, चित्त का प्रकृति के गुणों से उपराम होकर निश्चल तथा अचंचल होना । इसे काव्य की भाषा में 'सखी' या 'सहचरी' तत्व कहा गया है । सहचरी जीवात्मा का विशुद्ध स्वरूप है, त्रिगुणातीत रूप है ।[2]

१- "रसास्वादन इसी प्रकार मनुष्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति से संबंध रखता है — रजस् और तमस् पर जब सत्व का प्रभाव जम जाता है, तब अन्तःकरण में ज्ञान का उन्मेष होता है, सत्य का परिचय होने लगता है और चित्तवृत्ति शान्त हो जाती है । उस समय यह न समझना चाहिए कि शरीर में रजस् और तमस् का बिल्कुल अभाव हो गया है, बल्कि सत्वगुण की प्रधानता के कारण वे दब से जाते हैं ।" काव्य में अभिव्यंजनावाद—लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पृष्ठ ५ ।

२- त्रिगुण देह संभ्रम है सखी आपनो रूप ।
तासे स्थिति ह्वै कें निरखि नित्य विहार अनूप।।७४।। सुधर्मबोधिनी, पृ० ६६

तथा विचार-संस्कारों को दग्ध कर देता है। प्रेमभक्ति का मार्ग अत्यन्त रहस्यमय है, ज्ञान सभी मार्गों से न्यारा है। इसलिए निरंजनी सन्तों ने यह प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें प्रेमाभक्ति की गली बताये जांय। नाम के शस्त्र और रूप के चंदन की पवित्र चिता में जल कर जब उसकी प्राकृत वासनाएं जल-जल कर भस्म की ढेरी बन जाती हैं तब कृष्णप्रेमी के एक नूतन व्यक्तित्व का आविर्भाव होता है जिसे भाव-देह या गुणातीत शुद्धदेह कहते हैं। यह देह अप्राकृत तथा ज्योतिस्वरूपा चिन्मय होती है, इसी के प्राप्त होने पर 'लीला से लीला' दिखायी जा सकती है। भौतिक शरीर के धर्म- भूख प्यास, ईर्ष्या-द्वेष काम-क्रोध आदि से यह भावदेह अछूता रहता है। इसी भावदेह की प्राप्ति से रसोपासना आरम्भ होती है। इस अवस्था में प्रवेश करने पर भावभक्ति का आविर्भाव होता है। भाव या तो साधनभक्ति आदि वैधी भक्ति-संजात होता है या मात्र ह्लादिनी राधा तथा कृष्ण अथवा कृष्णभक्त के अनुग्रह से प्रस्फुटित हो जाता है। साधनभक्ति के अनन्तर ही भावभक्ति का जन्म होता है। भगवत्कृपा भावसंप्राप्ति का प्रमुख कारण है, साधनभक्ति से भाव के उपयुक्त भूमिका का निर्माण अवश्य हो सकता है, साक्षात् भावोदय नहीं। यही भाव जब परिपक्व हो जाता है तब प्रेम रूप होकर रस दशा को पहुँच जाता है।[1]

१- "बिना योग्य आधार के आधेय की सत्ता नहीं हो सकती। बिना विशुद्ध देह के भाव का उदय नहीं हो सकता। यह प्राकृत देह वृत्तियों का आधार होने से नितान्त मलिन, दोषपूर्ण तथा अशुद्ध होता है। अतः भाव जैसे विशुद्ध पदार्थ को धारण करने का सामर्थ्य ही नहीं रखता। इसीलिए भावदेह की आवश्यकता होती है। प्राकृत मालिन्य आदि दोषों से विरहित शुद्ध देह को 'भावदेह' के नाम से अभिहित किया जाता है। भावदेह आंतर विशुद्ध देह होता है और बाह्यदेह बाहरी अशुद्ध देह। इन देहों में प्रथमतः योग या परस्पर सामंजस्य नहीं होता।...... भावदेह के सिद्ध होने पर ही साधक के हृदय में 'भाव' का उदय होता है और यही भाव नाना साधनों से विकसित होकर 'प्रेम' के रूप में परिणत हो जाता है। बिना प्रेम के उदय हुए भगवान के अपरोक्ष ज्ञान का उदय नहीं ही होता है। भाव तथा रस में यही अंतर है कि भाव होता है अपक्व दशा तथा रस होता है पक्व दशा।" -- बलदेव उपाध्याय,- भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ५४३-४४।

साथी नर नारी के विषय में सत्य है, सभी प्राणी देहधारी हैं। देहधारियों में शुद्ध सत्व की पूर्णाभिव्यक्ति तो क्या, उसका प्रभाव तक नहीं रहता। ऐसी तामस देह के विषय में सामाजिक के मन में जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य वृत्ति का उदय संभव नहीं। इसलिए लौकिक प्रीति के विभावादि की रस योग्यता में विश्वास नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार, लौकिक अनुकार्य नायक-नायिका में लौकिकता, परिमितता एवं अन्तराय के कारण भक्त उनमें रसबोध नहीं स्वीकार करते। तब भी जो उनका चरित्र रसावह होता है, उसके उत्तर में उन्होंने कहा है, कि वह केवल काव्य में। किन्तु काव्य करते हैं वह कवि की वर्णन-चातुरी की विशेषता है। काव्य में कवि रति आदि रसोपकरणों में अभिनव सौंदर्य प्रदान कर देता है, जिसकी अनुकर्ता नट व सामाजिक उसमें रसास्वादन का अनुभव करते हैं। किन्तु भगवत्प्रीति तथा भगवद्रस केवल कवि प्रतिभा नहीं है, वह सत्य हैं। उसके समस्त उपकरण स्वभावतः रसमय हैं, आनन्दरूप हैं अतः वास्तविक रूप से रसयोग्य हैं।

भक्तिरस के आचार्य काव्यरस को अनित्य तथा कृत्रिम मानते हैं अनित्य इसलिए कि उसकी स्थिति मात्र संवेदनकाल तक रहती है, कृत्रिम इसलिए कि उसकी निष्पत्ति कतिपय कृत्रिम व्यापारों के कारण होती है। जो रति लोक में नितान्त वैयक्तिक एवं लौकिक होती है उसे कवि सार्वजनीन किस प्रकार बना देता है? भाव में यह सर्वसंवेद्यता "साधारणीकरण" या "विभावन" नामक प्रक्रिया से आती है जो कवि की लोकोत्तर प्रतिभा का चमत्कार है। अनुकार्य (नायक-नायिका) में रस का अलौकिक आस्वाद नहीं होता, उनमें सारे उपकरण लौकिक होते हैं, अतः वह काव्यरस के समकक्ष भी नहीं ठहरता। एक मात्र भगवद्रस ही अकृत्रिम, नित्य तथा अलौकिक है क्योंकि वह अपने विभावन के लिए कविप्रतिभा पर आश्रित नहीं है, न ही उसके अनुकार्य लौकिक हैं।

काव्य रस को अलौकिक सिद्ध करने की चेष्टा कदाचित् पंडितराज जगन्नाथ से प्रारम्भ हुई। श्री ललिताचरण जी गोस्वामी का मत है कि 'पंडितराज जगन्नाथ से पूर्व आलंकारिकों ने रस को "रसो वै सः" श्रुति से प्रमाणित करने की चेष्टा नहीं की है। उनकी दृष्टि में इन दोनों रसों का भेद स्पष्ट था और उन्होंने काव्य रस के लिए केवल सहृदय को प्रमाण माना है। सर्वप्रथम पंडितराज जगन्नाथ

भक्तिरस की स्थापना :

मध्ययुग से पूर्व भक्ति की स्वतंत्र रूप में सांगोपांग प्रतिष्ठा नहीं हुई थी । वैदिकयुग से लेकर बौद्धकाल तक भक्ति ज्ञान की अनुगामिनी और संपोषिका बन कर रही । उपनिषद्काल तक ज्ञान, कर्म और भक्ति की समान प्रतिष्ठा थी, किन्तु बाद के युग में ज्ञान एवं कर्म का ऐसा उत्कर्ष हुआ कि भक्ति की एक क्षीण अन्तर्धारा मात्र प्रवाहित होती रही । अतः उसमें भक्ति का रूप न मिल कर उसके छोटे-छोटे प्रारंभिक तत्वों की ही विशेष दृष्टि मिलती है जो श्रद्धा, निष्ठा, समर्पण आदि । ये तत्व हृदय से संबंध रखते हुए भी विशुद्ध रागतत्व से संबंधित नहीं हैं, इसलिए भगवदनुरक्ति को काव्यशास्त्रियों ने मात्र भाव कह कर छोड़ दिया, 'रस' स्थापना में रागात्मिका वृत्ति का पूर्ण परिपाक वांछित होता है, अनिवार्य है, जो उस युग तक की ज्ञान प्रधान भक्ति में पूर्ण प्रस्फुटित नहीं हो सकी थी । मध्ययुग में आकर जन-मानस कर्म तथा ज्ञान को शुष्क और नीरस साधन-मार्ग समझने लगा, उसे किसी ऐसे सरस मार्ग की खोज थी जो व्यक्तिगत सीमाओं को तोड़ कर भी मन की रागात्मकता को आकर्षित कर सके, राग की समस्त प्रेरणा को अपने में समाहित कर सके । इस युग में भक्ति को ज्ञान के अंकुश से मुक्त करने की तीव्रतम आकुलता देखी जाती है । बौद्धयुग तक ज्ञान को सर्वोत्तम प्राधान्य माना जाता था । किन्तु मध्ययुग में भावप्रवण भक्ति को ही परमपुरुषार्थ सिद्ध कियागया । नारद एवं शाण्डिल्य के भक्तिसूत्रों तथा भागवत के आधार पर भक्ति की एकान्तिक प्रतिष्ठा संभव हो सकी, उसे अपने आप में पूर्ण, ज्ञान से भी अधिक श्रेयस्कर समझा गया क्योंकि ज्ञान जिस संवित् को प्राप्त कर कृतकार्य हो जाता है भक्ति उस संवित् को अपने आह्लाद में ठीक उसी प्रकार संजोए हुए है जैसे सीप में मोती । भक्ति का प्रमुख स्वरूप ह्लादक ठहराया गया, और 'आनंद' किंवा 'आह्लाद' का ही दूसरा नाम रस है । अब भक्ति की परिभाषा परम प्रेमरूपा, ईश्वर में परानुरक्ति तथा अमृतस्वरूपा के रूप में दी जाने लगी । प्रभु के माहात्म्य एवं ऐश्वर्यबोध का स्थान— जिससे अभिभूत एवं विस्मित होकर अवनत तथा प्रणत होने की भावना मात्र हो सकती है —अनुरक्ति एवं माधुर्यबोध ने ले लिया। भगवान के माधुर्यमण्डित रूप ने हृदय की रागात्मकता का आवाहन किया । यह रागात्मकता ऐसी उमड़ी कि उसमें श्रद्धा, विस्मय, नमन आदि भाव बह चले, परात्पर सौंदर्य के कूल-सागर में डूब कर सारे भाव रंजित हो उठे । भक्ति में केवल एक ही

स्वर की धन गूंज रही थी -- रागात्मिका, अन्य सारे मनोभाव उसी की झंकार बन कर बजते थे । जब चित्त की सभी वृत्तियां असीम सौंदर्य के अनुराग में मग्न होकर आत्मविस्मृत होने लगीं तब भगवद्-रति की रसरूपता के विषय में संदेह ही कहां रह सका ? भगवद्रति अब भावमात्र नहीं रही, उसमें रस के सारे उपकरण उपस्थित थे -- निर्गुण-निराकार ब्रह्म के अवतार में साकार होते ही भगवद्-रति का आलंबन विभाव स्पष्ट हो उठा, उनके मिलन के आह्लाद और विरह की टीस को उद्दीप्त करने वाले तत्वों में उद्दीपन विभाव की व्यापकता देखी गई, केवल अध्यात्म या दर्शन में ही सिमटा न रहकर व्यक्त सत्ता के सारे अंग उपांगों में भक्ति के अभिव्यक्त होने से अनुभावों की परिव्याप्तता स्पष्ट हो गया, और भक्ति-भाव के लिए जब यह स्वीकार कर लिया गया कि व्यक्ति किसी भी भाव से भगवान को भज सकता है, तब मानव-मन में घुमड़न करनेवाले छोटे एवं क्षणभंगुर भाव भी आलंबन से रति जोड़ कर संचारीभाव बने । इस प्रकार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी सभी का संयोग जब उपस्थित था तब भक्तिभाव से रस की निष्पत्ति क्यों न होती । जो भक्ति ज्ञान गोचर बन कर अतिचिंतन का रहस्य बनी हुई थी, वह प्रकट होकर चेतना की समस्त गतिविधियों को प्रेरित एवं परिचालित करने लगी। व्यक्ति की सारी चेतना श्रीकृष्ण के आकर्षण से खिंच कर गोपी-सी ऐसी निमग्न हुई कि उसे सिवाय रसदशा के और कोई संज्ञा ही नहीं दी जा सकती । किसी महत्तर रागात्मकता में आत्मविलयन ही रस है, और यह अवस्था मध्ययुग की भक्ति में उत्कट रूप में उपस्थित हो चुकी थी । चैतन्यदेव, मीराबाई आदि राग-प्लावित भक्तों से अलौकिक रस की विभिन्न अन्तर्दशाएं ऐसी बिखरी होने लगीं कि भक्ति की रसरूपता को अब इन्कार करना संभव नहीं रह सका । भक्ति की रस-रूपता को साक्षात् देख कर उसे केवल दार्शनिक सत्य ही नहीं, मनोवैज्ञानिक सत्य भी माना जाने लगा ।

आलंकारिकों ने भगवद्रति को भावमात्र कह कर उसकी रसयोग्यता को अस्वीकार कर दिया था । किन्तु मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति के आचार्यों ने विशेषकर चैतन्य सम्प्रदाय के विद्वान गोस्वामियों ने, भगवद्रति की रसदशा प्रतिपादित करवाई। उनका कथन है कि भक्तपुरुष, साधारणतया जिन्हें `सहृदय` किंवा `रसिक` कहा जाता है, उन्हें संवेद्य न हो सकने के कारण रस होने से वंचित नहीं किया जा सकता । केवलमात्र `सहृदयता` रस निर्णय की कोई कसौटी नहीं है । जो रस अप्राकृतिक है, दिव्य है, वह साधारण जन की परिचित `रसिकता` की पकड़ में कैसे आ सकता है ?

वह रस चेतना की गहराइयों के कुंज में, या अन्तर्मन के मधुरा-प्रांगण में निवास करता है, जो रसिक उनमें प्रवेश करता है वही उसका आस्वादन कर सकता है, अतएव उसके अधिकारी सभी 'सामाजिक' नहीं। वह रस साधारण रसिक की चेतना नहीं हो सकता, उसके सामने मात्र ध्वनित हो सकता है, पूर्ण प्रस्फुटित नहीं। इसलिए आस्वादक की अधिकारिता के कारण भक्ति को 'भावध्वनि' या रसध्वनि नहीं कहा जा सकता, ऐसा कहना भ्रमास्पद है। भक्तों ने भगवद्रति को भावध्वनि या रसध्वनि की संकीर्ण गली से निकाल कर रस के प्रशस्त राजमार्ग पर प्रस्थापित किया, उसकी स्वतंत्र रस सत्ता घोषित की।

यद्यपि भक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं था कि उसकी रस सत्ता उन्हीं आधारों से निष्पन्न हो जिनसे काव्यरस की निष्पत्ति होती है, क्योंकि वह स्वयं में पूर्ण एक ऐसी अनुभूति है, जो अखण्डरूपा अतः स्वयंसिद्ध रस है, किन्तु काव्य में भगवद्रति को भाव, भावध्वनि या रसध्वनि मात्र का जो तुच्छ स्थान दिया गया था, उससे क्षुब्ध होकर भक्ति के आचार्यों ने भक्ति की रसरूपता भरत के रसशास्त्र के आधार पर ही उपस्थापित कर पंडितों में उसकी मान्यता दिलाई।

भगवत्प्रीति की रसयोग्यता रसशास्त्र के अनुसार श्रीजीवगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'प्रीतिसंदर्भ' में प्रस्थापित की है। रसशास्त्र के अनुसार स्थायीभाव, विभावादि के संयोग से रसरूप में परिणत होता है। अतएव भगवत्प्रीति को भी उन्हीं कसौटियों पर कसा गया है।

स्थायीभावत्व :

सबसे प्रथम भगवत्प्रीति का स्थायीभावत्व प्रतिपादित किया गया है। स्थायीभाव में स्थायित्व व भावत्व का रहना आवश्यक है। प्रीतिमात्र भाव है, भगवत्प्रीति भी भाव विशेष है, इसलिए उसमें भावत्व है। अतः स्थायीभाव के सारे लक्षण भगवत्प्रीति में हैं। विरुद्ध एवं अविरुद्ध भावसमूह द्वारा जो विचलित नहीं होता, प्रत्युत अन्य विरुद्ध एवं अविरुद्ध भावों को भी आत्मभाव प्राप्त कराता है उसे स्थायीभाव कहते हैं। रसशास्त्रोक्त यह स्थायीभाव-लक्षण भगवत्प्रीति में वर्तमान है। उदाहरण के लिए यशोदा के वात्सल्य-भाव को कृष्ण की अनुकूल चेष्टाएं जैसे गोदोहन, क्रीड़ादि तथा प्रतिकूल चेष्टाएं जैसे - माखनचोरी, इत्यादि वात्सल्यविरोधी श्रृंगार लीलाएं, सभी पुष्ट करती हैं। प्रतिकूल भावों से यशोदा के वात्सल्य की किंचित् भी हानि

भावना द्वारा सिद्ध है। उनके परिकरगण उन्हीं की तुल्यता प्राप्त कर उनके आस्वादन के योग्य बने हैं। उद्दीपन विभाव उनकी सम्बन्धी हेतु अलौकिक हैं।

> एवं तत्परिकरणादिस्वालौकिकत्वं ज्ञेयम्। तत्रालम्बनकारणस्य श्रीकृष्णादीस्वामीदीप्तिशक्तिमानन्दादित्वं सिद्धम्। तत्परिकरस्य च तत्तुल्यत्वादि। तच्च श्रुति-पुराणादि दुन्दुभि घोषितम्। अतोऽनुद्दीपनकारणानामपि नानेद तदीय-त्वात्।[1]

जीवगोस्वामी ने इस प्रकार सूक्ष्म निरीक्षण एवं विवेचन के साथ भक्तिरस की प्रस्थापना की है। जीवगोस्वामी ने भक्ति-रस का उतना सम्पूर्ण विवेचन तो नहीं किया किन्तु भगवत्प्रीति की रसरूपता का निरूपण उन्होंने भी किया है। जिस परिपाटी से काव्यशास्त्र में रस-निरूपण हुआ करता है उसी परिपाटी से रूपगोस्वामी ने भक्तिरस की सुनिपुण प्रतिष्ठा की है। भक्तिरसामृतसिन्धु में कृष्णरति को विभावादि के संयोग से रस रूप में परिणत होता दर्शाया गया है। इस ग्रन्थ में स्थायीभाव विभाव अनुभाव सात्विक आदि रस के सभी अंगों का भक्तिरस के संदर्भ में सम्यक् निरूपण हुआ है।

रूपगोस्वामी के मत से विभाव, अनुभाव, सात्विक तथा व्यभिचारी भाव द्वारा श्रवणादि से भक्तजन के हृदय में आस्वादनीय होने पर कृष्णरति भक्तिरस कहलाती है।[2] रूपगोस्वामी ने स्पष्ट कहा है कि यह कृष्णरति केवलमात्र भक्तों की आस्वादनीय होती है, इतर जनों की नहीं। भक्तिरस सबको ग्रहणीय नहीं हो सकता क्योंकि सब में उसे अनुभव करने की योग्यता नहीं होती। जिनमें जन्मान्तरीय अथवा इहजन्म संबंधीय भागवद्भक्ति की सद्वासना विद्यमान है, उन्हीं के चित्त में भक्तिरस का आस्वादन होता है, अन्य 'शुष्क' जन के चित्त में भी नहीं।

१- प्रीतिसंदर्भ - 'परमतत्वं चाखमौरेतत्म्' - श्लोक १११ ।।

२- विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ।।
एषा कृष्णरतिः स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत् ।।
भ०र०सि०, दक्षिण विभाग - प्रथमलहरी, श्लोक २ ।।

रसनिष्पत्ति की पूर्ण प्रक्रिया से कृष्णादि विभाव द्वारा कृष्णरति परमानंद की पराकाष्ठा को पहुंचती है, किन्तु अन्य विभावादि से भी यह स्वयं आस्वादनीय होती है जैसे स्वप्न में श्रीकृष्ण का दर्शन कर गोपिकाओं का स्फुट श्रृंगार: रसापन्न होना। रूपगोस्वामी ने भक्तिरस के उपकरणों का सांगोपांग विवेचन किया है।

<u>स्थायीभाव :</u>

अविरुद्ध, विरुद्ध भावों को वशीभूत करके जो भाव महाराज की भांति विराजमान रहता है उसे स्थायीभाव कहते हैं।[1]

कृष्णभक्तिरस में एक ही स्थायीभाव है जो कई प्रकार से भासमान होता है, वह है कृष्णरति। यह कृष्णविषयक रति मुख्य एवं गौणभेद से दो प्रकार की होती है।

शुद्धसत्वविशेषरूपा जो रति होती है उसे मुख्य रति कहते हैं, यह स्वार्था परार्था भेद से दो प्रकार की होती है।[2] स्वार्थामुख्यरति वह है जो अविरुद्ध भावों द्वारा स्पष्टरूप से अपना पोषण करती है तथा जिसमें विरुद्ध भावों द्वारा ग्लानि उत्पन्न होती है। परार्थामुख्यरति वह है जो स्वयंसंकुचित होकर विरुद्ध, अविरुद्ध भावों को ग्रहण करती है।

मुख्यारति स्वार्था एवं परार्था रूप में शुद्धा, प्रीति, सख्य, वात्सल्य, प्रियता भेद से पांच प्रकार की होती है तथा गौणीरति हास्य, अद्भुत, वीभत्स, भयानक, रौद्र, वीर, करुण, शान्त भेद से आठ प्रकार की होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य परम्परा के मान्य रस कृष्णरति के हेतु अपना मुख्य आसन छोड़ देते हैं एवं जिन्हें भोजादि ने केवल भाव या रसध्वनि कह कर छोड़ दिया था वे कृष्णरति में मुख्य आसन ग्रहण करते हैं। भक्ति के लिए कृष्णरति ही

1- "अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन्।
सुराजेव विराजेत स स्थायी भाव उच्यते ।।1।। दक्षिण विभाग, पंचमलहरी,
भ०र०सि०

2- "शुद्धसत्वविशेषात्मा रतिर्मुख्येति कीर्तिता।
मुख्यापि द्विविधा स्वार्था परार्था चेति कीर्त्यते ।।3।। ,, ,,

प्रीति आदि के आश्रित स्वाद से विशिष्ट होने के कारण ही पृथक कही हैं ।

प्रीति इत्यादि तीन भावों द्वारा रति के पुष्टपोषण करने के तीन प्रकार हैं । ये तीनों भाव अनुकूलता से उत्पन्न होते हैं तथा अधिकार भेद से आश्रित रहते हैं । कृष्ण-भक्त के अनुग्रह-पात्र, सखा एवं गुरुजन होने के क्रम से भावरूपी प्रीति, सख्य एवं वत्सल रति हुआ करती है । यह रतित्रयी केवला एवं संकुलाभेद से दो प्रकार की होती है ।

अन्य रति के गन्ध से शून्य होने को केवलारति कहते हैं । यह व्रजानुग रसाल आदि पत्रकादि, श्रीदाम इत्यादि सखागण तथा नंद आदि गुरुजन में स्फूर्ति पाती है । दो या तीन भावों के एकसाथ मिलने पर रति को संकुलारति कहते हैं । यह उद्धव भीम आदि में प्रकाशित हुई रहती है । किन्तु जिसमें जिस भाव का प्राधान्य रहता है वह उसी भाव से भावित कहा जाता है जैसे उद्धव में सख्य भाव रहने पर भी दास्य की प्रधानता के कारण उन्हें अनुग्राह्य ही कहा जाता है ।

<u>प्रीति :</u> जो व्यक्ति कृष्ण से न्यून है उसे उनका अनुग्रह-पात्र कहा जाता है । ऐसे व्यक्ति की रति श्रीकृष्ण के प्रति आराध्यबुद्धि से युक्त आत्मरूपा होती है एवं आराध्य में आसक्ति उत्पन्न करती है, इसलिए अन्यत्र प्रीति विनष्ट कर देती है। अतः इस रति को प्रीति-रति कहते हैं । इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है-

> "स्वस्माद्भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः ।
> आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितीरिता ।[1]
> तत्रासक्तिकृदन्यत्र प्रीतिसंहारिणी ह्यसौ ।।"

<u>सख्य :</u>

जो श्रीकृष्ण के तुल्य हैं वे उनके सखा हैं । सखाओं की रति विश्वासरूपा होती है इसलिए इस रति को सख्य रति कहा गया है । यह परिहास एवं प्रहासकारिणी है इसलिए इसे अयंत्रणा रति भी कहते हैं ।[2]

१- भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिणविभाग, पंचम लहरी, श्लोक १५ ।

२- "ये स्युस्तुल्या मुकुन्दस्य ते सखायः सतां मताः ।
साम्याद्विश्रम्भरूपैषां रतिः सख्यमिहोच्यते ।
परिहास प्रहासादि कारिणीयमयन्त्रणा ।। १६ । भ०र०सि०द०वि०पंचमलहरी ।।

वात्सल्यरति :

हरि के प्रति गुरुत्वाभिमानमय जिनकी रति है उन्हें पूज्य कहते हैं एवं उनकी अनुकम्पामयी भक्ति का नाम वात्सल्य है। लालन, मंगलक्रिया आदि इसके मुख्य अनुभाव हैं।[1]

प्रियता

हरि एवं मृगाक्षी रमणी के परस्पर[2] संभोग के अभिलाष का नाम प्रियता है। इस प्रियता का एक और नाम है - मधुरा।

इनके अतिरिक्त भ०र०सि० ग्रंथों में दो और भावों का कथन है - वात्सल्य एवं प्रेय भक्ति रस। इनमें से वात्सल्य भक्ति रस को प्रीतिरति के अन्तर्गत लिया जा सकता है क्योंकि इनमें श्रीकृष्ण के पितृतुल्य रूप से उनके पालक होने का भाव होता है, एवं प्रेय भक्तिरस श्रीकृष्ण की वत्सलता पर आधारित वात्सल्यभाव है। प्रेय भक्ति रस का कृष्णकाव्य में वर्णन प्रायः नहीं के बराबर है। इस प्रकार मुख्यभाव पांच ही ठहरते हैं। रस के आगे प्रकरण में इनका सांगोपांग विवेचन होगा।

विभाव :

रति के आस्वादन के हेतु को विभाव कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है - आलंबन तथा उद्दीपन। सगुण भक्ति में रस का आस्वादन भगवान तथा भक्त की पृथक सत्ता के ऊपर अवलंबित होता है। यदि ये दोनों जल की भांति परस्पर लीन रहें तब रसानुभूति का मर्म विकसित नहीं हो पाता, इसलिए लीलारस के लिए ये अंशी-अंश आस्वादक-आस्वाद्य, भगवान-भक्त आलंबन विभाव माने हैं।

१- गुरवो ये हरेरस्य ते पूज्या इति विश्रुताः।
अनुग्रहमयी तेषां रतिर्वात्सल्यमुच्यते।
इदं लालनभव्याशीश्चिबुकस्पर्शनादिकृत् ॥१९॥ भ०र०सि०द० वि० पंच लहरी।

२- मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च संभोगस्यादिकारणम्।
मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः ॥२०॥ वही ॥

गुरुमान्य : आपुवापंसम्मित को गुरुमान्य कहते हैं ।

रुचिर : सौंदर्य द्वारा नेत्रों को जो आनन्ददायिता है उसे रुचिर कहते हैं ।

प्रियम्वद : अपराधीजन के प्रति भी जो सान्त्वना के वाक्य प्रयुक्त करते हैं उन्हें प्रियम्वद कहा जाता है जैसे इन्द्र के प्रति श्रीकृष्ण के वचन ।

वावदूक : कर्णप्रिय तथा अर्थपरिपाटीयुक्त वाक्यता को वावदूक कहते हैं ।

विदग्ध : शिल्पविलास आदि में पुरुताभिज्ञता का नाम विदग्ध है । श्रीकृष्ण गीत रचना, ताण्डव रचना, पहेली-रचना, वेणुवादन, मालागुम्फन, चित्रकला, इन्द्रजाल निर्माण तथा उन्मत्त वर्गों को [illegible] में प्रसादित करने में निपुण हैं ।

दक्ष : दुःसाध्य कार्यों को शीघ्र संपादित करने वाले को दक्ष कहते हैं

वशी : इन्द्रिय जयकारी को वशी कहते हैं ।

दान्त : उपयुक्त क्लेश के दुःसह होने पर भी सहन करने वाले को दान्त कहा जाता है।

स्थिर : फलोदय पर्यन्त कर्म करने को स्थिर कहते हैं ।

धृतिमान : जो व्यक्ति पूर्णस्पृह है अर्थात् निराकांक्ष है एवं क्षोभ के कारणों के बावजूद भी शान्त है उसे धृतिमान कहते हैं ।

वदान्य : दानवीर को वदान्य कहा जाता है ।

भक्तसुहृत : भक्तों के सुहृद । दो प्रकार के होते हैं - सुसेव्य एवं दासबन्धु । सुसेव्य के एकदल तुलसी से ही विष्णु का प्रसन्न हो जाना, शस्त्र न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा पर भी रथचक्र द्वारा पाण्डवों का पक्ष ग्रहण करना कृष्ण का दासबन्धुत्व है ।

रक्तलोक : समस्त लोकों का अनुरागभाजन रक्तलोक कहलाता है ।

समृद्धिमान : महासम्पत्तिशाली को समृद्धिमान कहते हैं ।

वरीयान : सबके मध्य अतिशय मुख्य व्यक्ति वरीयान कहलाता है ।

सच्चिदानन्द में विशेष चमत्कार उद्भासित होता है क्योंकि वह बिना किसी अन्य प्रयोजन के उनके प्रति जो उद्गार होता है वह प्रेम की निरपेक्षता, अहैतुक एवं अकुंठ अभिव्यक्ति होती है, माधुर्य का वैशिष्ट्य इस आकर्षण शक्ति का पूर्णतम रूप में सम्पादन करता है, इसलिए वृन्दावन में रस की परिपूर्ण अभिव्यक्ति होती है। मथुरा में कृष्ण का कर्मवीर रूप भी विकसित हुआ क्योंकि यहाँ उनके माधुर्य में ऐश्वर्य की मात्रा का मिश्रण हो जाता है। माधुर्य में ऐश्वर्य के गुरु भार के मिश्रण से रस की सरलता कुछ बोझिल होने लगता है, यहाँ रस का आह्लाद कुछ भाराक्रान्त होकर उतना सूक्ष्म नहीं रह पाता जितना वृन्दावन में अतः मथुरा में रस की पूर्णतम स्थिति, जो निरपेक्ष एवं अकारण होती है, न रह कर पूर्णतर स्थिति रह जाती है। और जब यही आनंद कुरुक्षेत्र के भीषण संग्राम में सक्रिय होता है, जब विश्व की बोझिल परिस्थितियों का घटाटोप उसकी मधुरता को आच्छादित कर लेता है, तब मधुरता गौण हो जाती है • संघर्ष प्रमुख। वहाँ वेणुधारी किशोररूप श्रीकृष्ण का न, नहीं चक्र-सुदर्शनधारी श्रीकृष्ण की विराटमूर्ति का ऐश्वर्य पूर्ण रूप से उद्घाटित हो जाता है। इस प्रकार द्वारिका में श्रीकृष्ण के ललित आनंद की नितान्त सापेक्ष गति हो जाती है, अतएव वहाँ उन्हें पूर्ण कहा जा सकता पूर्णतम नहीं, पूर्ण इसलिए कि पूर्ण-ब्रह्म होने के नाते वे प्रत्येक अवस्था में पूर्ण है।

इस भक्तिरस में पूर्णतम, पूर्णतर, पूर्ण का निर्धारण निःसंदेह ही प्रेम के, भावयोग के आधार पर किया गया है। कहीं जीवन की नितान्त सरल अवस्था जहाँ है वहाँ वे पूर्णतम कहे गये। किन्तु आनंद जब सत्ता के निभृत कुंज-अन्तरालों में ही विचरण न करके, जीवन के युद्धक्षेत्र में भी रथारूढ़ होता है तब तो उसकी अभिव्यक्ति की पूर्णतम स्थिति समझनी चाहिए। सच्चिदानन्द की सत्ता भावजगत तक ही क्यों सीमित की जाय, कर्मजगत में उतरने पर वह क्षीणतर क्यों अनुभूति अनुभूत हो। श्रीकृष्ण से युक्त होकर सदा सभी परिस्थितियों में उनका वही आनंद क्यों न अनुभव करें? योग बुद्धिपरिचालित निष्काम कर्म किस प्रकार निर्विघ्न आनंद को बाधित कर सकता है? आनन्द की वही स्थिति पूर्णतम क्यों समझी जाय जिसमें अपरिहार्य स्थूल जीवन की कटुता से दृष्टि मूंद ली गयी हो? वस्तुतः आनंद को सत्ता के समस्त क्षेत्रों-प्रेम, प्रज्ञा, कर्म-- को अधिकृत करके प्रकट होना चाहिए। प्रेम में तो वह किन्हीं विरल क्षणों में प्रकट भी हो जाता है, कर्म एवं बुद्धि में न प्रकट होना ही जीवन की बड़ी भारी विडम्बना है।

जहाँ पर कृष्ण की शक्ति और प्रभा उनके प्रेमाक्रान्त भक्तों की दृष्टि से नहीं होती वह वृन्दावन है, मथुरा में कृष्ण कंसोदी के साथ शील और शक्ति का योग भी होता है, और द्वारिका में उनके कर्म, भाव एवं विचार की विदग्धता पूर्णरूपेण अभिव्यक्त होती है। द्वारिका में श्रीकृष्ण के पुरुषोत्तम-व्यक्तित्व में कर्म, ज्ञान एवं भाव का सुचारु सामंजस्य होने से उनका व्यक्तित्व वहाँ पूर्णतम माना जा सकता है। गीता के प्रणेता, कुरुक्षेत्र के सारथी तथा राजनीतिज्ञों के भर्ता श्रीकृष्ण के गंभीर व्यक्तित्व से मध्ययुगीन कृष्णभक्ति अप्रभावित रही है। कानु या कान्हा के किशोर व चंचल केलि-कलोल, निश्चिन्त स्वरूप को ही आराधना के योग्य पूर्णतम रूप मानते हैं। किन्तु यह पूर्णता आभ्यन्तरिक पूर्णता है, अन्तर्जगत की समस्त निश्चिन्त सिद्धि है, संपूर्ण जीवन की संकुल साधना की सिद्धि नहीं, व्यक्तित्व के सूक्ष्म वायवीय वायुमंडल की सिद्धि है, स्थूलाधिकता की नहीं। जैसा कि पंडित रामचंद्र शुक्ल ने कहा है[1] कि कृष्ण-भक्ति आनन्द की सिद्धावस्था को लेकर चला है, साधनावस्था को नहीं। किन्तु आनंद केवल सिद्धि में ही नहीं साधना में भी अनुभूत होना चाहिए। साधना की प्रक्रिया को हटा कर एकदम सिद्धि पर नहीं पहुँचा जा सकता। यथा है सखी नमनीय व अंश में ही आनन्द अनुभव करना आनंद की पूर्णता नहीं हो सकती, उस वज्र से भी कठोर तथा कुसुम से भी सुकुमार सच्चिदानंद ब्रह्म को उसकी समग्रता में ग्रहण करने की क्षमता रसानुभूति की पूर्णतम स्थिति कही जायगी।

नायक की दृष्टि से श्रीकृष्ण चतुर्विध रूप में वर्णित हुए हैं --धीरोदात्त, धीर-प्रशान्त, धीरललित एवं धीरोद्धत। सामान्यतः एक ही व्यक्ति में इन चारों प्रकार का नायकत्व होना संभव नहीं है किन्तु श्रीकृष्ण समस्त गुणों एवं क्रियाओं के आधार हैं, उनके लीलावश: यह चतुर्विधता परस्पर-विरोधी नहीं हो पाती। श्रीकृष्ण को विरुद्ध धर्मों का आश्रय कहा गया है, उनमें मानव-व्यक्तित्व के सारे विरोध एक विचित्र सामंजस्य में स्थित रहते हैं। अतएव एक ओर वे धीरोदात्त हैं तो दूसरी ओर धीरोद्धत। धीरोदात्त के समस्त लक्षण उनमें हैं, वे विनयान्वित, नानागुणशाली करुण, दृढ़व्रत, आत्मश्लाघाशून्य, गूढ़गर्व, वीर एवं सुंदर देहधारी हैं, उदाहरणस्वरूप इन्द्र के द्वारा वर्षा किये जाने पर उनका गोवर्धनधारी रूप। धीरललित कृष्ण

१-चिन्तामणि,

भी अविचलित रखना होती है। इन्द्र द्वारा अतिवृष्टि के कारण व्रजवासी आकुल होते हैं किन्तु श्रीकृष्णने धैर्यपूर्वक स्थिरता से सात दिनों तक गोवर्धनगिरि को धारण किया। जन्म से पिता के भाव का अनुपालन करना शील है। आश्रित की आश्रितवत्सलता को भी शील कहा गया है। जैसे इन्द्र द्वारा गोप, गोपियों के शरण पर श्रीकृष्ण का रूप।

प्रचुर शृंगार चेष्टा को ललित कहते हैं। कृष्ण वृन्दावन के प्राकृत मदन हैं, वे ललित गुणों के रत्नाकर हैं। आत्मसमर्पण कारिता को औदार्य कहते हैं। श्रीकृष्ण के उत्कृष्ट औदार्य का अंकन हितहरिवंश जी ने इन शब्दों में किया है -

'प्रीति की रीति रंगीलोइ जानै
जद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपुनपौ मानै।'[1]

श्रीकृष्ण के अन्य गुण भी किंचित वर्णित हैं जैसे- सखाय, धर्मविषयक में गर्गमुनि आदि, युद्धविषयक में सात्यकि, मन्त्रणा में उद्धवादि श्रीकृष्ण के सहायक कहे गये हैं।

कृष्णभक्त :

कृष्णभावित से भावितान्तःकरण को कृष्णभक्त कहा जाता है- तद्भावभावितस्वान्ताः कृष्णभक्ता इतीरिताः[2]।

कृष्णभक्त दो प्रकार के होते हैं - साधक एवं संसिद्ध।

साधक भक्त वे हैं जिनमें कृष्णविषयक रति उत्पन्न हुई है। यद्यपि उनमें सम्यक् रूप से विघ्न निवृत्त नहीं हुए रहते तथापि वे कृष्ण-साक्षात्कार के योग्य होते हैं।[3]

१- हितचौरासी, पद सं० ५१

२- भक्तिरसामृत सिंधु, दक्षिणविभाग, प्रथमलहरी, श्लोक १५२।

३- उत्पन्नरतयः सम्यङ् नैर्विघ्न्यमनुपागताः।
कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधकाः परिकीर्तिताः ॥ भ० र० सि० द० वि० ५/०८०।

* अविज्ञाताखिलक्लेशाः सदा कृष्णाश्रितक्रियाः।
सिद्धाः स्युः सन्ततप्रेमसौख्यास्वादपरायणाः॥ वही ॥

सिद्धभक्त वे हैं जिन्हें कुछ भी क्लेश अनुभव नहीं होता, सर्वदा कृष्ण संबंधी सभी कार्यों में तथा सर्वातिशायी प्रेम सौख्यादि के आस्वादन में परायण रहते हैं जैसे ब्रजवासी गण।

सिद्धभक्त दो प्रकार के होते हैं— संप्राप्त सिद्धि तथा नित्य। जो भक्त साधन द्वारा अथवा कृपानुग्रहवश सिद्ध होते हैं उन्हें संप्राप्तसिद्धि कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं— साधनसिद्ध यथा रुक्मिणी आदि, कृपासिद्ध यथा यज्ञपत्नी, शुकदेव इत्यादि। नित्यसिद्ध भक्त वे हैं जिनके गुण श्रीकृष्ण की भाँति नित्य एवं आनंदस्वरूप हैं, जो अपनी अपेक्षा श्रीकृष्ण के प्रति कोटिगुण अधिक प्रेमवान हैं, जैसे नन्दगोप, यशोदा माता आदि।

शान्त, दास पुत्र आदि, सखा, गुरुजन, व प्रेयसीगण—ये पांच प्रकार के कृष्ण-भक्त कहे गये हैं।

उद्दीपन :

जो भाव उद्दीपित करते हैं उन्हें उद्दीपन कहते हैं। कृष्णभक्ति रस के उद्दीपन हैं— श्रीकृष्ण के गुण, चेष्टा व प्रसाधन, हास्य, अंगगंध, वंशी, शृंग, नूपुर, शंख, पदचिन्ह, क्षेत्र, तुलसी, भक्त, तदाचार अर्थात् एकादशी इत्यादि।

गुण :

कायिक, वाचिक, मानसिक भेद से तीन प्रकार के होते हैं। कायिक—वयस्, सौंदर्य रूप एवं मृदुता इत्यादि को कायिक गुण कहते हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण के कायिक गुण उनका स्वरूप ही है अर्थात् श्रीकृष्ण के स्वरूप से वे अभिन्न हैं, स्वाभाविक है, तथापि भेद स्वीकार करके उन्हें उद्दीपन विभावमें रखा गया है।

कृष्ण की वयस् तीन प्रकार की है — कौमार, पौगण्ड तथा कैशोर। पांच वर्ष तक कौमार, दस वर्ष तक पौगण्ड, तथा पंचादश वर्ष तक कैशोर, तदनन्तर षोडश वर्ष से यौवन का आरम्भ माना जाता है। क्रीड़ाभेद से वत्सलरस में कौमार, सख्य में पौगण्ड वयस् उपयुक्त होती है, किन्तु मधुर रस के लिए कैशोर ही श्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण प्रायः किशोराकृति हैं अतएव उनमें सब वयसों के कायिक उद्दीपन मौजूद हैं। इनमें से मुख्यतः किशोरावस्था को ही परम मधुर मान कर कृष्णकाव्य लिखागया है, इसलिए इस अवस्था का विस्तृत विवेचन हुआ है।

वंशी मणिमयी, हेमी व वैणवी होती है। मणिमयी का नाम सम्मोहिनी स्वर्णनिर्मिता का नाम आकर्षिणी तथा वांसनिर्मिता का नाम आनन्दिनी है।

१२- शृंग : जो पीले स्वर्ण द्वारा बद्ध तथा मध्यभाग में छिद्रयुक्त रत्नभूषित, मन्द्रघोषा ध्वनिकारी, [illegible] के सींग को शृंग कहते हैं[1]।

१३- नूपुर : स्पष्ट है।

१४- शंख : [illegible] प्रकार का होता है। दक्षिणावर्ती शंख को पांचजन्य कहते हैं।

१५- पदांक : जो चरणचिन्ह देखकर भक्त पुलकायमान होते हैं।

१६- तीर्थ : धाम।

१७- तुलसी : स्पष्ट है।

१८- भक्त : स्पष्ट है।

१९- तदासार : कृष्ण से संबंधित पुण्य दिवस जैसे भाद्रकृष्णाष्टमी इत्यादि।

अनुभाव :

जो भाव उद्भास्वरगत चित्त के भावसमूह को प्रकाशित करके उनमें बाह्य विकार की भांति दर्शाते हैं वे अनुभाव कहलाते हैं। यों कृष्णरति में वेही अनुभाव कथित हैं जो काव्य में रस के प्रसंग के वर्णित होते हैं, किन्तु इसके कुछ विशेष अनुभाव भी हैं, जो साधारणतया प्रचलित अनुभावों से भिन्न हैं। वे हैं -नृत्य, गीत, क्रोशन, तनुमोटन, हुंकार, जृम्भण, दीर्घनिश्वास, लालास्राव, अट्टहास, घूर्णा व हिक्का[2]।

१- शृंगन्तु गवलं हेम निबद्धाग्रिमपश्चिमम्।
रत्नजालस्फुरन्मध्यं मन्द्रघोषाभिधं स्मृतम्।। १९।। भ० सि० पू० र० सिं० पू० ल०।

२- नृत्यं विलुंठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनम्
हुंकारो जृम्भणं श्वासभूमा लोकानपेक्षिता
लालास्रावोऽट्टहासश्च घूर्णाहिक्कादयोऽपि ।।२।।
दक्षिणविभाग, द्वितीय लहरी-भक्तिरसामृतसिंधु।

आक्रान्त होने को सत्व कहते हैं,[1] सत्व से उत्पन्न भावों को सात्विक कहते हैं ।

सात्विक तीन प्रकार के होते हैं - स्निग्ध, दिग्ध तथा रूक्ष ।

स्निग्ध:

स्निग्ध सात्विक मुख्य और गौण भेद से दो प्रकार का होता है । मुख्यभाव द्वारा आक्रान्त सात्विक का नाम मुख्य है, इस मुख्यभाव के साथ श्रीकृष्ण का साक्षात् संबंध है । गौण रति द्वारा आक्रान्त भावों को गौण कहते हैं, इस गौण सात्विक में किंचित् व्यवधान से कृष्ण के साथ संबंध हुआ रहता है ।

दिग्ध:

मुख्य व गौण-रति अतिरिक्त जातरति व जन का मन यदि भाव द्वारा आक्रान्त हो और वह भाव रति का अनुगामी हो तो उसे दिग्ध सात्विक कहा जाता है । जैसे, निशान्त में स्वप्नावेश के कारण प्रांगण में लुंठित पूतना को देख कर यशोदा कम्पित होने लगीं तथा व्याकुल चित्त होकर पुत्र का अन्वेषण करने लगीं ।

यहां पर रति की अनुगामिता के कारण इस कम्प को दिग्ध सात्विक कहा गया है ।

रूक्ष :

यदि कभी मधुर एवं आश्चर्यमयी भावकथा से रति शून्य जन के हृदय में आनंद विस्मय आदि द्वारा भावों का उदय हो तो उसे रूक्ष कहते हैं ।

कृष्ण रति के सात्विक भाव भी परम्परागत आठ हैं स्तम्भ, स्वेद, रोमांच स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु व प्रलय ।

प्राण जब भूमिस्थ होता है तब स्तम्भ, जब जलाश्रित होता है तब अश्रु, जब तेजस्थ तब स्वेद, एवं जब आकाशित होता है तब प्रलय विस्तार करता है और जब वायु में ही स्थित रहता है, तब क्रमशः मन्द, मध्य, तीव्र भेद के अनुसार रोमांच, कम्प व स्वरभेद इन तीन सात्विकों का विस्तार करता है ।

इनका विस्तृत वर्णन भी प्रस्तुत किया गया है —

१- "कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात् किंचिद्वा व्यवधानतः ।
भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः ॥१॥
दक्षिण-विभाग, तृतीयलहरी, भक्तिरसामृतसिंधु ।।

१- स्तंभ : हर्ष, भय, आश्चर्य विषाद एवं अमर्ष से स्तम्भ उत्पन्न होता है। इसमें वाक्यरहितता, निश्चलता, शून्यता आदि प्रकाशित होते हैं।

२- स्वेद : हर्ष, क्रोध, भयादि जनित शरीर की आर्द्रता को स्वेद कहते हैं।

३- रोमांच : आश्चर्यदर्शन, हर्ष, उत्साह, व भय के कारण रोमांच का उदय होता है।

४- स्वरभेद : विषाद, विस्मय, क्रोध, आनन्द व भयादि से स्वरभेद उत्पन्न होता है। गद्गद वाक्य को स्वरभेद कहते हैं।

५- वेपथु : वित्रास, क्रोध व हर्षादि द्वारा गात्र का चांचल्य वेपथु अथवा कम्प कहलाता है।

६- वैवर्ण्य : विषाद क्रोध, व भयादि से उत्पन्न वर्णविकारका नाम वैवर्ण्य है। इसमें मलिनता व कृशता भी आ जाती है।

अश्रु : हर्ष, क्रोध, विषाद आदि के द्वारा बिना प्रयत्न के नेत्रों में जो जलोद्गम होता है, उसका नाम अश्रु है। हर्षजनित अश्रु में शीतलता तथा क्रोधादि जनित अश्रु में उष्णता होती है।

प्रलय : सुख दुख रहित चेष्टा एवं ज्ञानशून्यता का नाम प्रलय है, इसमें भूमिनिपतन आदि अनुभाव प्रकाशित होते हैं।

ये सात्त्विक उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त कर धूमायित, ज्वलित, दीप्त व उद्दीप्त अवस्थायें भी धारण करते हैं। उक्त वृद्धि बहुकाल व्यापित्व, बहुअंगव्यापित्व तथा स्वरूपोत्कर्ष के अनुसार तीन प्रकार की होती हैं। अश्रु व स्वरभेद के अतिरिक्त स्तम्भादि भावों का सर्वांग व्यापित्व है।

सात्त्विक की उपरोक्त अवस्थाओं का विवरण दिया गया है।

धूमायित :

जो भाव स्वयं या द्वितीय भाव के साथ युक्त होकर अल्पतम प्रकाशित होता है एवं जिसे गोपन नहीं किया जा सकता, उसका नाम धूमायित है।[1]

१- अद्वितीया अमीभावा अथवा साद्वितीयिका: ।
ईषद्व्यक्ता अपह्नोतुं शक्या धूमायिता मता: ।।४४।। द०वि०पृ०८०, भ०र०सिं०।।

ज्वलित :

दो तीन सात्त्विक भाव यदि एक ही समय में उदित हों और उन्हें कष्टपूर्वक गोपन किया जा सके तब उसे ज्वलित कहते हैं।[1] यथा किसी वयस्य गोप ने श्रीकृष्ण से कहा, हे सखे! वन में तुम्हारी वंशीध्वनि के कानों में श्रवणसीमा तक प्रवेश करने पर मेरा हाथ कम्पित होकर शीघ्र गुंजा ग्रहण नहीं कर पाया, दोनों नेत्र अश्रुपूर्ण होकर मयूरपुच्छ नहीं पहिचान सके, एवं उरुद्वयं स्तम्भयुक्त होकर एक पग भी नहीं चल सके। हे बन्धु! तुम्हारी वंशी की कैसी आश्चर्यकारी मोहिनी शक्ति है।[2]

दीप्त :

वृद्धिप्राप्त तीन चार अथवा पांच सात्त्विक भाव यदि एक ही साथ उदित हों और उन्हें सम्वरण न कर पाया जाय तो उन्हें दीप्त कहते हैं।[3]

यथा, राधा की कोई सखी राधा से कहती है, हे सखि! आंखों में आंसू आ जाने पर वृथा क्यों पुष्परज की निन्दा कर रही हो, गात्र रोमांचित होने पर शीतल वायु के प्रति क्यों आक्रोश प्रकट कर रही हो, उरुस्तम्भ के कारण वन-विहार के प्रति क्यों क्षुब्ध हो रही हो, राधे! स्वरभेद तुम्हारी मदनवेदना प्रकाशित किये दे रहा है।[4]

१- "ते द्वौ त्रयो वा युगपद्यान्तः सुव्यक्तां दशां।
शक्याः कृच्छ्रेण निह्नोतुं ज्वलिता इति कीर्तिताः।।" ४४।। द० वि० तृ० ल० भ० र० सिं०

२- भक्तिरसामृतसिंधु, दक्षिण विभाग, तृतीय लहरी, श्लोक ४४।।

३- "प्रौढ़ां त्रिचतुरा व्यक्तिं पंच वा युगपद्गताः।
सम्वरीतुमशक्यास्ते दीप्ता धीरैरुदाहृताः।।४५।। द० वि० तृ० ल० भ० र० सिं०।।

४- भक्तिरसामृतसिंधु, दक्षिण विभाग, तृतीय लहरी, श्लोक ४५।।

उद्दीप्त :

एक ही समय यदि पांच, छः अथवा सारे सात्त्विक भाव उदय होकर परमोत्कर्ष प्राप्त करें, तब उन्हें उद्दीप्त कहा जाता है[1]। उदाहरणस्वरूप, हे पीताम्बर ! आप तुम्हारे विरह में गोकुलवासी घर्मयुक्त होकर कम्पित व पुलकित अंग द्वारा स्तम्भ धारण कर रहे हैं, आकुल होकर चाटुवाक्य द्वारा विलाप कर रहे हैं, अत्यधिक ऊष्मा द्वारा म्लान, एवं नेत्राम्बु द्वारा आर्द्र होकर अतिशय मोहित हो रहे हैं[2]।

सात्त्विक भाव महाभाव में परम उत्कर्ष धारण करते हैं, इसलिए सारे भाव महाभाव में सुद्दीप्त होते हैं।

सात्त्विक में चार प्रकार के आभास संभव हैं - रत्याभास, सत्त्वाभास, निःसत्त्व एवं प्रतीप। ये सब भाव पूर्वपूर्व श्रेष्ठ हैं। रति के प्रतिबिम्ब हेतु रत्याभास, हर्ष विस्मय आदि के द्वारा चित्त के आक्रान्त होने पर सत्त्वाभास, हर्षविस्मयादि के आभास से भी आर्द्र अन्तर स्पर्श न करने को निःसत्त्व कहते हैं, तथा विरोधीभावजनित प्रतीप द्वेष का विषय बनता है।

मुमुक्षु में रत्याभास हुआ करता है जैसे किसी वाराणसीवासी का सन्यासी सभा में हरिचरित्र का गान करते करते पुलकाकुल होकर अश्रु द्वारा गण्डों को सिंचन करना।

जाति से श्लथहृदय में उदित हर्ष विस्मय आदि के आभास को सत्त्वाभास के कारण सत्त्वाभासमय कहते हैं। जैसे कृष्णलीला श्रवण करते करते प्राचीन मीमांसक का आनंदित होकर पुलकान्वित होना।

स्वभावतः या अभ्यासवशतः ऊपर से कोमल अन्तर से कठिन हृदय में सत्त्वाभास व्यतिरेक कहीं अश्रु पुलक आदि नहीं देखा जाता। ऐसे को निःसत्त्व कहते हैं।

१- " एकदा व्यक्तिमापन्नाः पंचषाः सर्व्व एव वा ।
आरूढ़ा परमोत्कर्षमुद्दीप्ता इति कीर्तिताः ॥५८॥ भ०र०सिं०द०वि०तृ०ल०॥

२- श्लोक ५६। द०वि०तृ०ल०भ०र०सिं० ॥

श्रीकृष्ण के भक्तों में क्रोध, भय, आदि द्वारा जो सात्विकभाव हुआ करता है उसे प्रदीप्त कहते हैं।

<u>व्यभिचारी</u> : वाक्य भ्रूनेत्रादि से, एवं सत्वोत्पन्न भाव द्वारा जो सब भाव प्रकाशित होते हैं उन्हें ही व्यभिचारी कहा जाता है। व्यभिचारी भाव में गति संचार करते हैं इसलिए उन्हें संचारी भी कहा जाता है।[१] कृष्णरति अंतःकरण का स्थायीभाव है, वह मन, प्राण के साथ जब उसके आरोधक न बन कर उसे पुष्ट करते हैं तब वे भक्तिरस के संचारी की संज्ञा पाते हैं।

व्यभिचारी भाव स्थायीभाव में मग्न होकर तरंग की भाँति स्थायीभाव की वृद्धि करते हैं, इसलिए वे स्थायीभाव का स्वरूप प्राप्त किए रहते हैं।

कृष्णरति में वे ही संचारी कथित हुए हैं जो काव्य परम्परा में अन्तर्भुक्त हैं। कारण ही उनका आध्यात्मिक पक्ष भी उद्घाटित किया गया है।

वे संचारी हैं : निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका त्रास आवेग, उन्माद, अपस्मृति, व्याधि, मोह, मृत्यु, आलस्य, जाड्य, व्रीड़ा, अवहित्था स्मृति, वितर्क, चिंता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्ति, बोध।

इनमें से कुछ का विवरण दिया जा रहा है —

<u>निर्वेद</u> :

महादुःख, विच्छेद, ईर्ष्या, सद्विवेकादिकल्पित अर्थात् कर्तव्य के अकरण तथा अकर्तव्य के करण निमित्त चिंता तथा अपने अपमान- इन सबसे निर्वेद जन्म लेता है।

इसमें चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य, दैन्य एवं दीर्घ निःश्वास आदि अनुभाव प्रकट होते हैं।

<u>विषाद</u> :

इष्ट वस्तु की अप्राप्ति, प्रारब्ध कार्य की असिद्धि, विपत्ति एवं अपराध आदि जनित जो अनुताप होता है उसका नाम विषाद है।

१- वागांगसत्वसूच्या ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः।
संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणोऽपि ते ।।श्री भ० र० सि०, चतुर्थ लहरी, म० १ श्लो०।।

विषाद में उपाय व सहायता का अनुसंधान, चिन्ता, क्रन्दन, विलाप, श्वास, वैवर्ण्य व मुखशोष आदि अनुभाव हुए रहते हैं।

<u>दैन्य :</u>

दुःख, ताप, व अपराधादि से जो दौर्बल्य होता है उसका नाम दैन्य है।

बाह्य, हृदय में कृपणता, मलिनता, चिन्ता एवं अंगों की जड़ता आदि प्रकाशित होते हैं।

४- <u>श्रम</u> :

पथ, नृत्य, रमणादि जनित खेद को श्रम कहते हैं। निद्रा, घर्म, अंगमर्द, जृम्भा, दीर्घनिःश्वास आदि इससे उत्पन्न होते हैं।

५- <u>मद</u> :

ज्ञाननाशक आह्लाद का नाम मद है। यह दो प्रकार का होता है — मधुपान जनित तथा अन्य [illegible] जनित। गति, अंग, वाक्यस्खलन, नेत्रघूर्णन आदि इसके विकार होते हैं। उत्तम व्यक्ति मद उत्पन्न होने पर सोता है, मध्यम व्यक्ति हास्य व गायन करता है, एवं अधम व्यक्ति स्वेच्छानुसार निष्ठुर वाक्य प्रयोग तथा रोदन करता है।

६- <u>आवेग</u> :

चित्त संभ्रमकारी संचारी को आवेग कहते हैं। यह आवेग प्रिय, अप्रिय, अग्नि, वायु, वर्षा, उत्पात, गज एवं शत्रु से उत्पन्न होकर आठ प्रकार का होता है।

७- <u>उन्माद</u> :

अतिशय आनन्द, आपद एवं विरह आदि जनित चित्तभ्रम को उन्माद कहते हैं। अट्टहास, नटन, संगीत, व्यर्थचेष्टा, प्रलाप, धावन, चीत्कार इत्यादि क्रियाएं उन्माद में प्रकट होती हैं।

८ - <u>मोह</u> :

हर्ष, वियोग, भय, एवं विषादादि से उत्पन्न मन की मूढ़ता अर्थात् बोधशून्यता मोह है।

कर अन्तरतम में भगवत्सान्निध्य में निमग्न रहता है। वस्तुतः यह मूर्छा भक्ति की सर्वोच्च अवस्था है, ज्ञानमार्ग में जो निर्विकल्प समाधि कहा गया है और भक्तिमार्ग में सविकल्प समाधि। इसी प्रकार निद्रा भगवच्चिन्ता में शून्यचित्तता एवं भगवान् के सम्मिलन से उत्पन्न आनन्द की व्याप्ति से उत्पन्न होती है। चिन्मय भक्ति में तमोगुणमयी निद्रा का संचार नहीं होता। भगवद्भक्ति की निद्रा प्राकृत न होकर समाध्यादि मात्र होती है। परमानन्दमय श्रीकृष्ण के निमित्त आयास-तादात्म्या-पत्ति में श्रम होता है। कृष्णाभिन्न अन्य-सम्बन्धित क्रिया में आलस्य उत्पन्न होता है। भगवद्दर्शन आदि की वासना उद्बुद्ध होती है जिससे बोध उत्पन्न होता है। भगवत्प्रीति में अधिष्ठान के कारण निर्वेद आदि व्यभिचारी भावसमूह के लौकिक गुणमय भाव की भाँति प्रतीत होने पर भी वास्तविक पक्ष में उन्हें गुणातीत समझना चाहिए[1]।

संचारी भाव दो प्रकार के होते हैं- परतंत्र एवं स्वतंत्र।

परतंत्र : वरिष्ठ एवं कनिष्ठ भेद से परतंत्र भी दो प्रकार का होता है -

वरिष्ठ परतंत्र साक्षात् एवं व्यवधान भेद से दो प्रकार का होता है। जो वरिष्ठ किंवा वरपरतंत्र साक्षात् अर्थात् मुख्य रति को पुष्ट करता है उसे साक्षात् कहते हैं और जो भाव गौणी रति को पुष्ट करता है उसे व्यवहित वरपरतंत्र कहते हैं।

जो भाव दो रसों का अंगत्व प्राप्त करता है उसे अवर किंवा कनिष्ठ कहते हैं। विश्वरूप दर्शन से पश्चात् अर्जुन की अवस्था भय के आधीन मोह की थी।

१- एवं च ज्ञातः वत्सलादिषु भयानकादिष्वपि तथा तत्संगतिरानिर्वचनीयोऽपि भवति। निद्रा तच्चिन्तया शून्यचित्तत्वेन तत्संगत्यानन्दव्याप्त्या च भवति। श्रमः परमानन्दमयतदर्थायासतादात्म्यापत्तौ भवति। आलस्यं तादृशमत्तुकं कृष्णेतरसंबंधिक्रियाविषयकं भवति। बोधश्च तद्दर्शनादिवासनायाः स्वयमुद्बोधन भवतीत्यादिकं ज्ञेयम्। किंच निर्वेदादीनां भावानां लौकिकगुणमयभावायमानानामपि वस्तुतो गुणातीतत्वमेव, तादृशभगवत्प्रीत्यधिष्ठा-नात्।
— प्रीति संदर्भ, श्लोक ११८ ।।

स्वतंत्र :

संचारी सर्वदा पराधीन होने पर भी कभी कभी स्वतंत्र होते हैं। अर्थात् स्थायी भाव के आधीन रहते हुए भी ये संचारी कभी कभी स्वतंत्र हो जाते हैं।

भागवत में रसानुविद्ध, रसानुसारी व रसशून्य भेद से स्वतंत्र संचारी तीन प्रकार का होता है।

आभास :

संचारी भावों के अस्थान-प्रयोग का नाम आभास है। संचारी का आभास प्रातिकूल्य तथा अनौचित्य भेद से दो प्रकार का होता है।

विपक्ष में वृत्ति को प्रातिकूल्य कहते हैं, जैसे कंस ने अक्रूर का तिरस्कार करते हुए कहा "और मूर्ख! जिस व्यक्ति ने एक जलचर सांप कालियनाग का दमन किया और लोष्ठखण्ड सदृश गोवर्धन उठाया, उसमें तुम ईश्वरत्व आरोपण कर रहे हो इससे अद्भुत और क्या हो सकता है?"

यहाँ असूया प्रतिकूल भाव है।

अनौचित्य :

असत्यता एवं अयोग्यताख्य अनौचित्य दो प्रकार का होता है। अप्राणी में असत्यता तथा पशुपक्षी में अयोग्यता का आरोपण होता है। जैसे कदम्ब का रोमांचित होना, असत्यताख्य अनौचित्य है।

संचारी का सूक्ष्म विश्लेषण भक्तिरसशास्त्र में हुआ है। किन्तु भक्ति के असीम सागर में उठती हुई असंख्य भाव-लहरियों को क्या संचारी की परिमित संख्या में बांधा जा सकता है? लौकिक भावों से उद्भावित होने पर जो लघु लघु भाव चित्त में संचरित होते हैं वे ही सारे भाव भक्ति जैसे दिव्य एवं गहन मनोभाव में भी संचरण करें, यह संदिग्ध है। भक्ति सामान्य मन की अनुभूति नहीं है, अतः सामान्य-मन की गलियों में उसके मनोराज्य को किस प्रकार बांधा जा सकता है? मानव-मन से अपरिचित न जाने कितने नूतन भाव भक्त के मन में जन्म लेते रहते हैं, न जाने कैसी-कैसी रहस्यमयी भाव - वृत्तियाँ उसमें उठती गिरती हैं। उनकी संख्या गिनना तो दूर, नामकरण तक नहीं किया जा सकता। ऐसे भावों की व्याख्या भक्तिरस के

संचारी के अन्तर्गत करना अभीष्ट था । केवल काव्यशास्त्र में के अन्तर्गत आनेवाले तैंतीस संचारियों की भक्तिपरक व्याख्या करने से भक्तिरस पूर्णतया प्रमाणित नहीं हो जाता है । अन्य रसों से पृथक उसकी अपनी विशेषता क्या है, किस रूप में है ?

भाव की चार दशाएं भी कथित हैं- भावोदय, भावसन्धि, भावशाबल्य व भावशान्ति जो परम्परानुगत है ।

तैंतीस व्यभिचारी, हास्य क्रोध इत्यादि तथा एक मुख्य भाव जो स्थायी भाव में वर्णित होता है- इन सब को मिलाकर कुल ४१ भाव होते हैं । इन भावको मुख्य भाव कहा जाता है । ये शरीर व इन्द्रियों को विक्षुब्ध करते हैं, स्थायी भाव के आविर्भाव पर उत्पन्न होते हैं अतएव इन्हें विक्षुब्धि कहा जाता है ।कोई भाव किसी स्थान में स्वाभाविक तथा किसी स्थान में आगन्तुक होता है । इनमें से जो भाव स्वाभाविक हैं वे अन्तःकरण में व्याप्त रहते हैं, और आगन्तुक भाव विभावादि द्वारा उद्दीपित होते हैं ।

चित्त के गरिष्ठ अथवा गम्भीर किंवा महत् या कर्कश होने पर ये सब भाव सम्यक् रूप से उन्मीलित हुए रहते हैं किन्तु लोगों को दृष्टिगत नहीं होते । चित्त के लघु या तरल किंवा क्षुद्र या कोमल होने से ये भाव बहुत कम उन्मीलित होते हैं किन्तु लोग उन्हें स्पष्ट जान जाते हैं । गंभीर चित्त समुद्र की भांति है, उसकी गहन प्रशान्तता में उद्वेलन की उर्मि पहिचानना कठिन है किन्तु लघुचित्त गड्ढे के समान है जिसमें तनिक भी उच्छ्वास तरंगित हो उठता है ।

कर्कशचित्त तीन प्रकार का बताया गया है — वज्र, स्वर्ण, लाक्षा । वज्र नितान्त कठिन होता है, वह कभी मृदुल नहीं होता जैसे तपस्वी का चित्त । स्वर्ण स्वभाव अग्नि के अतिशय उत्ताप से द्रवीभूत हो जाता है और लाक्षा अग्नि के अल्पाल्प उत्ताप से ही सर्वतोभावेन द्रवित हो जाता है उसी प्रकार चित्त भाव की अल्पता से द्रव हो उठता है ।

कोमल चित्त भी तीन प्रकार का होता है- मधु, नवनीत और अमृत । मधु और नवनीत चित्त भाव के यथाविध आतप से गल जाते हैं, किन्तु कृष्ण के प्रियतम भक्तों का चित्त स्वभावतः अमृतवत् सर्वदा द्रवीभूत रहा करता है ।

---

२४ II

ख II

कृष्णभक्ति की भावभूमि में पाँच रूप प्रकट हुए हैं - निर्वेद, दास्य, वात्सल्य सख्य एवं मधुर। निर्वेद पृथक् रस का आधार होता हुआ भी वस्तुत: समस्त रसों का आधार है। चित्त की लौकिक वृत्तियों के उपशमन के उपरान्त ही चमत्कारी एवं आह्लादकारी भक्ति के अन्य भावों का प्रादुर्भाव होता है। निर्वेद के अभाव में कृष्ण-भक्ति का कोई भी भाव स्फुरित नहीं हो सकता, क्योंकि विकारग्रस्त चित्त में सुखत्व का स्फुरण नहीं हो पाता। समता की नींव पर आनंद का भवन खड़ा होता है, अतएव वात्सल्य आदि आनंदप्रधान भाव शान्त की आधारशिला पर ही प्रतिष्ठित हो पाते हैं। शांत भाव में संबंध स्थापन के हेतु दास्य का जन्म होता है, दास्य में सौहार्द के समाविष्ट हो सख्य जन्म लेता है, और इनमें ममत्व के मिल जाने से वात्सल्य, तथा इन समस्त रागों को आत्मसात करता हुआ तादात्म्य भावपन्न मधुर भाव सर्वोपरि विराजमान है। ये भाव उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। अतएव इन पर आधारित रसों का विवेचन क्रमान्वित रूप में ही रखा है।

शान्तरस :

शान्तरस की परिभाषा देते हुए भक्तिरसामृतसिंधु में कहा गया है कि वक्ष्यमान विभावादि द्वारा शमतासम्पन्न व्यक्तियों द्वारा जो स्थायी शान्तिरति आस्वादनीय होती है पंडितगण उसका वर्णन शान्तभक्तिरस कह कर करते हैं[1]।

कृष्णाश्रित शांत-रस एवं निराकाराश्रित शान्त निर्वाण में भेद है। योगीगण प्राय: ब्रह्मानन्द रूप सुखस्फूर्ति या शान्तभाव उपलब्ध करते हैं, किन्तु उनका यह शान्तभाव उस शान्तभाव की तुलना में अति अल्प है जो श्रीकृष्ण के सच्चिदानंद विग्रह के ईशभावापन्न सुख में है। उस ईशमय सुख का कारण श्रीविग्रह की साक्षात्-कारिता है, यद्यपि इस रस के भक्तों की उस विग्रह के क्रीड़ाकौतुक में कोई रुचि नहीं होती। लीलाओं से तटस्थ आत्माराम मुनिगण केवलमात्र भगवत्साक्षात्कार से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं।

---

१. वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यै: शमिनां स्वाद्यतां गत:।
स्थायी शान्तिरतिर्धीरै: शान्तभक्तिरस: स्मृत:।। २।। पश्चिमविभाग, प्रथम लहरी,
भक्तिरसामृतसिंधु।।

स्थायीभाव :

शान्तरस में शान्तिरति स्थायीभाव है, केवल निर्वेद ही नहीं । निर्वेद पर आधारित रस नश्वरात्मक भाव पर आश्रित होता है, भक्ति में रस का अभिव्यक्ति संबंध श्रीकृष्ण के दिव्यस्वरूप से होता है, किसी नश्वरात्मक स्थिति से नहीं । अतः भगवद् प्रीतियुक्त रस में "कृष्णारति" अभिप्रेत है चाहे वह रति गुणातीत ही क्यों न हो, भावों की ऊर्मियों से रहित । शान्तिरति समा और सान्द्रा भेद से दो प्रकार की होती है ।

शान्त रस परोक्ष और साक्षात्कार भेद से द्विविध होता है । यदि इस प्रकार से अलंकार-रसिकता हो तो धर्मवीर, दानवीर, व दयावीर को शान्तरस के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है, अन्यथा ये लौकिक रस के पात्र होते हैं ।

आलम्बन :

श्रीकृष्ण का चतुर्भुजरूप तथा शान्तगण इस रस के आलम्बन विभाव हैं ।

श्रीकृष्ण का चतुर्भुज रूप इसलिए इस रति का आलंबन बनता है कि उससे उनके ब्रह्मत्व का सतत बोध होता है । द्विभुज नराकार रूप में अप्रबुद्ध जन को लौकिकता की भ्रान्ति हो सकती है । इस रस में श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघनमूर्ति, आत्माराम-शिरोमणि, परमात्मा, परब्रह्म, शान्त, दान्त, शुचि, वशी, सदास्वरूप-संप्राप्त, हतारिगतिदायक व विभु इत्यादि रूप में गृहीत होते हैं।[1]

श्रद्धावान तपस्वी तथा आत्माराम इस रस के आश्रय हैं । कृष्ण एवं कृष्ण-भक्तों के करुणावश जिसने ऐसी रति प्राप्त की है, वे आत्माराम तथा भगवन्मार्ग में श्रद्धावान तापसगण शान्त कहलाते हैं । सनक सनन्दन आदि आत्माराम की कोटि में आते हैं । भक्ति द्वारा मुक्ति निर्विघ्न होती है इसलिए जो युक्तवैराग्य स्वीकार करते हैं एवं जिनकी अभिलाषा मुक्तिविषयक होती है उन्हें तापस कहते हैं ।

१- "सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गः आत्मारामशिरोमणिः ।
परमात्मा परब्रह्म शमी दान्तः शुचिर्वशी ।।
सदा स्वरूपसंप्राप्तो हतारिगतिदायकः ।
विभुरित्यादिगुणवानस्मिन्नालम्बनो हरिः ।। ५ ।। पश्चिमविभाग प्र०ल०, भ०र०सिं०

"ज्ञानी-संगति उपजै ज्ञान । अज्ञानी-संग होइ अज्ञाना ।
तातैं साधु-संग नित करना । जातैं मिटै जन्म अरु मरना ।
थावर-जंगम में मोहिं जानै । दयासील सबहीं हित मानै ।
सत-संतोष दृढ़ करै समाधि । माता ताको कहिये साध ।
काम, क्रोध, लोभहिं परिहरै । द्वन्द्व-रहित उद्यम नहिं करै ।
ऐसो लच्छन हैं जिन माहीं । माता तिनकौं साधु कहाहीं ।
ताकों कामक्रोध नित व्यापै । अरु पुनि लोभ सदा संतापै ।
ताहि असाधु कहत सब कोइ। साधु-भेष धरि साधु न होइ।
संत सदा हरि के गुण गावैं। सुनि सुनि लोग भक्ति कौं पावैं।
भक्ति पाइ पावैं हरि-लोक । तिन्हैं न व्यापै हर्ष न सोक।"[1]

तत्त्वज्ञान से उत्पन्न वैराग्य के आधार पर ही शान्तरस खड़ा होता है। संसार के अनुभव से विकल चित्त उस स्थिति की कामना करता है जहां सुखदुख का अनित्य लोक नहीं है, जहां भक्त चिरन्तन शान्ति में विश्राम करता है। वह सच्चिदानंद का प्रशान्त सागर है। वहां के सरोवर में भक्तिरूपी मुक्ताफल होता है, उस सुखसमुद्र में पहुंच कर विषयादि की तृष्णा नष्ट हो जाती है। एकरस सनातन दिव्य प्रकाश में मन के सारे अंधकार मिट जाते हैं। इसलिए शान्तरस के अभिलाषी भक्तगण सदा भृंगरूपी चंचल मन को वहीं चलने के लिए उत्प्रेरित करते हैं :—

"भृंगी री, भजि स्याम कमल-पद, जहां न निसि कौ त्रास ।
जहां बिधु-भानु समान, एकरस, सो बारिज सुख-रास ।
जहं किंजल्क भक्ति नव-लच्छन काम - ज्ञान रस एक ।
निगम, सनक, सुक, नारद, सारद, मुनि जन भृंग अनेक ।
सिव-बिरंचि खंजन मनरंजन, छिन छिन करत प्रवेस ।
अखिल कोष तहं भर्यौ सुकृतजल, प्रगटित स्याम - दिनेस।
सुनि मधुकरि, भ्रम तजि कुमुदनि कौ, राजिवबर की आस।
सूरज प्रेमसिन्धु में प्रफुलित, तहं चलि करै निवास।।"[2]

१- सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, पृ० १३२-१३३

२- ,, प्रथम स्कन्ध, पद संख्या ३३८ ।

क्षमा, कीर्तन, भक्ति का उपदेश, हरि के प्रति नति एवं हरि का स्मरण शान्तरस के साधारण अनुभाव हैं ।

भक्ति का उपदेश :

जिह्वा लै हेतु गोविंद गाउ ।
मोह-माया-लोभ लागे, काल घेरे जाइ ।
वारि में ज्यौं उठत बुदबुद, लागि बाइ बिलाइ ।
यौं तन-धन जनम-झूठौ, स्वान काग न खाइ ।
कर्म-कागद बाँचि देखौ, जौ न मन पतियाइ ।
अखिल लोकनि भटकि आयौ, लिख्यौ मेटि न जाइ ।
सुरति के दस द्वार रूँधे, जरा घेरयौ आइ ।
सूर हरि की भक्ति कीन्हें, जन्म-पातक जाइ ।।[1]

क्षमा, कीर्तन जैसे सात्त्विक अनुभाव के उदाहरण इस रस के काव्य में कहीं भी दृष्टिगत नहीं होते । भक्ति पथ का उपदेश आदि अन्य साधारण अनुभाव प्रायः प्रमुख कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में मिल जाते हैं । एकमात्र मधुरभाव के उपासक भक्तों में भी आराध्य से अनुरक्ति तथा विषयों से विमुखता उत्पन्न करने के उपाय में शान्तरस का उदाहरण मिल जाता है ।

" तू बालक नहिं, भयौ सयानव, काहे कृष्ण भजत नहिं नीके ।
अतिव सुमिष्ट तजिस सुरगिन पथ मन संचत संदुत फल फीके ।
हितहरिवंश नकीलि दुरगम यम द्वारे कटियत नाक नीके ।
भव जल कठिन मुनीजन दुर्लभ पावत क्यौं जु मनुज तन नीके ।।[2]

१- सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद सं० ३१९ ।

२- हितहरिवंश-स्फुटवाणी, पद सं० ४ ।।

प्रीतिभक्तिरस : दास्यभक्तिरस :

दास्य भाव की भक्ति पर आधारित रस को प्रीतिभक्तिरस कहा गया है। अनुग्राह्य पात्र के साथ सेव्य भगवान की प्रीति प्रीतिभक्तिरस के नाम से अभिहित होती है। आत्मोचित विभावादि द्वारा यह प्रीति भक्त के चित्त में आस्वादनीय होती है, इसीलिए इसे प्रीतिभक्तिरस कहते हैं।

अनुग्राह्यजन के संबंध में यह प्रीतिरस दासत्व एवं लालनीयत्व के कारण दो प्रकार की होती है जिन्हें क्रमशः सम्भ्रम प्रीति व गौरव प्रीति की संज्ञा प्राप्त होती है।[1]

क- संभ्रमप्रीति

दासाभिमानी व्यक्तियों में श्रीकृष्ण के प्रति प्रीति संभ्रमकी होती है। यह संभ्रमप्रीति विभाव अनुभाव आदि द्वारा पुष्ट होकर संभ्रमप्रीति कहलाती है।

स्थायीभाव :

संभ्रमप्रीतिरस का स्थायीभाव संभ्रम प्रीति है। प्रभुता-ज्ञान के कारण सम्भ्रम, कम्प, व चित्त में आदर की समष्टि को संभ्रम प्रीति कहते हैं।[2]

यह प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रेम, स्नेह व राग अवस्थाओं को पहुँचती है। प्रीति जब ह्रास शंका शून्य होती है तब उसे प्रेम कहते हैं। प्रेम में दुःखादि अनुभाव प्रकाशित होते हैं। प्रेम जब गाढ़ होकर चित्त को द्रवीभूत करता है तब उसे स्नेह कहते हैं, स्नेह में क्षणकाल भी विच्छेद सहन नहीं होता। जिस स्नेह में दुःख भी सुख प्रतीत होता है उसे राग कहते हैं, इसमें भक्त प्राणत्याग करके भी भगवान के प्रीति संपादन में प्रवृत्त होता है। चूंकि दास्यभाव मात्र निर्वेद युक्त शांत स्थिति नहीं है उसमें भावमयी रति का बीज अंकुरित हो चुका है इसलिए

१- 'अनुग्राह्यस्य दासत्वाल्लाल्यत्वादप्ययं द्विधा ।
भिद्यते संभ्रमप्रीतो गौरवप्रीत इत्यपि ।। १।भ०र०सिं०,पश्चिम विभाग,द्वि०ल०

२- 'सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात् कम्पश्चेतसि सादरः।
अनेनैक्यं गता प्रीतिः सम्भ्रमप्रीतिरुच्यते ।
एषा रसेऽत्र कथिता स्थायिभावतया बुधैः।। २९।पश्चिम विभाग,द्वि०ल०
भक्तिरसामृतसिंधु ।।

तक निर्विकार निष्काम नहीं रह पाता । जैसे स्पष्ट रूप से भगवान से प्रीति संबंध हो जाता है, क्योंकि भगवान के प्रति भक्त का भाव साधारण ~~रूप से कल्पना~~ जन की पूज्य बुद्धि तक सीमित नहीं होता, अनाम भक्ति से प्रेरित स्तुति और भजन का नहीं होता वरन् उन विशेषताओं को ग्रहण करता चलता है जिससे भाव 'रति' की श्रेणी में आता है, प्रेमलक्षणा-भक्ति की संज्ञा प्राप्त करता है । वास्तव में दास्य-भाव में संभ्रम के साथ ही प्रिय अनुकूल, सापेक्ष और स्नेहिल होता है । प्रीत्यास्पद की अप्राप्ति में कष्ट का भी अनुभव करता है और अनुरक्ति की गाढ़ता से भगवान के लिए दुःख उठाना भी उसे सुखकर प्रतीत होता है । रति की ये प्रारंभिक अवस्थाएं हैं । बिना इनके भाव 'रति' की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता ।

<u>आलम्बन :</u>

'हरि एवं हरिदास ।

<u>हरि :</u>

इस संभ्रमप्रीति के आलम्बन स्वरूप श्रीकृष्ण इन रूपों में वन्दित होते हैं । गोकुलवासियों के आलम्बन श्रीकृष्ण द्विभुज नराकार हैं, अन्यत्र अर्थात् द्वारिका, मथुरा आदि में कहीं द्विभुज, कहीं चतुर्भुज भी हैं ।

इस रस में हरि का स्वरूप है- एक रोमकूप में कोटि कोटि ब्रह्माण्डों का अवस्थान, कृपासमुद्र, अचिन्त्य महाशक्ति, सर्वसिद्धिनिषेवित, अवतारावलीबीज, आत्मारामगणाकर्षी, ईश्वर, परमाराध्य, सर्वज्ञ, सुदृढ़व्रत, समृद्धिमान्, क्षमाशील, शरणागतपालक, दक्षिण, सत्यवचन, दक्ष, सर्वशुभंकर, प्रतापी धार्मिक, शास्त्रचक्षु, भक्तसुहृद् वदान्य, तेजीयान्, कृतज्ञ, कीर्तिमान, वरीयान्, बलवान् एवं प्रेमवश्य ।

हरि का यह स्वरूप सब प्रकार के दास भक्तों के लिए समान रूप से आलम्बन हुआ करता है । इस रस के आलंबन स्वरूप श्रीकृष्ण की कृपासमुद्रता, क्षमाशीलता, शरणागतपालकता, कृतज्ञता एवं प्रेमवश्यता का गुणगान भक्तों ने अधिक किया है । हरि रक्षक होने का स्वभाव रखते हैं, वे ज्ञानियों के शिरोमणि हैं, अत्यन्त गंभीर हैं । गरिमामय हरि किन्तु इतने अधिक व कृतज्ञ एवं वदान्य हैं कि भक्तों के तिनकातुल्य गुण को मेरु समान मानते हैं और अपराध के सागर को बूंदतुल्य । वे रसिक अनुकूल